मूल संस्थापक : **प्रेमचंद : 1930**
पुनर्संस्थापक : **राजेन्द्र यादव : 1986**

पूर्णांक-403 वर्षः34 अंकः10 मई 2020

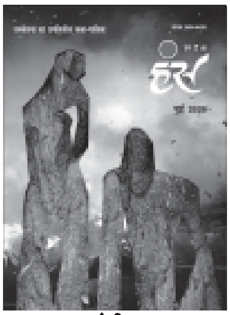

आवरण : बंशीलाल परमार

जनचेतना का प्रगतिशील कथा-मासिक

इस अंक में

संपादकीय
4. लॉकडाउन के सन्नाटे से... : **संजय सहाय**

अपना मोर्चा
6. पत्र

मुड़-मुड़ के देख
11. सांप्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता से परे : नामवर सिंह

न हन्यते
13. सुषम बेदी का जाना... : रेखा सेठी

कहानियां
17. मकड़ी का जाला : रत्नकुमार सांभरिया
28. फैसला : अंजली देशपांडे
46. उस टोले का भोज : निशि रंजन ठाकुर
55. स्वांग : मीनाक्षी स्वामी
63. एंजल ऑफ द लेक : मुकुल जोशी
70. वेइंग मशीन पर खड़े मिस्टर जॉन : प्रकृति करगेती
76. द हैप्पी बड्डे ऑफ सुमन चौधरी : अंजु शर्मा

कविता
26-27. रुचि भल्ला

कथेतर
40. स्थानिकता के दुर्लभ होते जा रहे रंग-गंध : पल्लव

बीच बहस में
52. अनावश्यक छिद्रान्वेषण : शिवेंद्र कुमार/ गिरिजेश कुमार

आराम नगर
60. हृदयहीन शहरी अभ्यारण्य और कल्पित गांव : मिहिर पंड्या

लेख
67. महामारी, प्रकृति और सृजन : जितेन्द्र भाटिया

घुसपैठिये
73. कोरोना : एक कामगार बस्ती से रपट : अनूप हल्दर

लघुकथा
54. नीतीश कुमार, 69. लता कादम्बरी,
75. रविशंकर सिंह

ग़ज़ल
96. राकेश भ्रमर

परख
82. अग्निलीक : परिवर्तन और निरंतरता का परिपक्व आख्यान : संजीव कुमार
87. कालचिती : गूंगा कराहता अंधेरा : नीलम कुलश्रेष्ठ
90. धुंध से बाहर निकलने की यात्रा : शहंशाह आलम
92. अपने समय का संवेदनशील ढांचा : राजीव कुमार

शब्दवेधी/शब्दभेदी
95. वायरस डायरी : तसलीमा नसरीन

संपादक
संजय सहाय
विशेष सहयोग
इब्बार रब्बी
प्रबंध निदेशक
रचना यादव
कार्यालय व्यवस्थापक
वीना उनियाल
प्रसार एवं लेखा प्रबंधक
हारिस महमूद
शब्द-संयोजन
सुभाष कश्यप
कार्यालय सहायक
किशन कुमार, दुर्गा प्रसाद
मुख्य विज्ञापन प्रतिनिधि (उ.प्र.)
राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल
रेखाचित्र
वंदना पंवार, शिवानी अनुभूति गुप्ता

कार्यालय
अक्षर प्रकाशन प्रा. लि.
2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2
संजय सहाय : 8800229316
दूरभाष : 011-41050047, 23270377
ईमेल : editorhans@gmail.com
वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

मूल्य : 40 रुपए, वार्षिक : 400 रुपए
संस्था और पुस्तकालय : 600 रुपए
आजीवन : 10,000 रुपए
विदेशों में : 70 डॉलर
सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट द्वारा अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. (Akshar Prakashan Pvt. Ltd.) के नाम से किए जाएं.

हंस/अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे. अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है. हंस में प्रकाशित रचनाओं में विचार लेखकों के अपने हैं उनसे हंस की सहमति अनिवार्य नहीं है. साथ ही उनके मौलिक या अप्रकाशित होने का उत्तरदायित्व भी संपादक और प्रकाशक का नहीं है.

प्रकाशक-मुद्रक : **रचना यादव खन्ना** द्वारा अक्षर प्रकाशन प्रा. लि., 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 के लिए प्रकाशित तथा एम.पी. प्रिंटर्स (प्रो. भास्कर इंडस्ट्रीज लि.) बी-220, फेज-II नोएडा (उ.प्र.) से मुद्रित. संपादक–संजय सहाय

'केंद्रीय हिंदी संस्थान', आगरा से सहयोग प्राप्त

लॉकडाउन के सन्नाटे से...

चारों तरफ लॉकडाउन है. कार्यालयों में ताले लटके हुए हैं फिर भी 'हंस' के पाठकों तक अंक पहुंचाने का हमारा प्रयास जारी है. प्रिंट में नहीं तो इंटरनेट से ही सही. अब इसमें जो भी कमियां रह जा रही हैं उन सबके लिए मैं 'हंस' की ओर से क्षमाप्रार्थी हूं.

कोविड-19 के इस वैश्विक संकट से मिलकर निपटने की बजाय अपने मुल्क में जिस तरह गोदी मीडिया और सत्ताधारियों का प्रचारतंत्र लोगों को बांटने में लगा है, वह षड्यंत्रकारी है, शर्मनाक है. चीन में फैल रही एक रहस्यमयी निमोनिया-सी बीमारी पर साल की शुरुआत में ही विश्व चौकन्ना हो चला था. तीसरे सप्ताह तक तो इस नॉवेल कोरोना वायरस के बारे में पूरा जगत संज्ञान ले चुका था. 30 जनवरी को भारत में पहला केस भी दर्ज हो चुका था फिर भी हमने आवश्यक तैयारियों पर किंचित् भी ध्यान नहीं दिया. अनेक राज्यों के छोटे-बड़े नेता तो छाती ठोकते फिर रहे थे कि कोरोना में दम नहीं कि हमारी तरफ झांकने का साहस भी कर सके...कि हमारे यहां 33 करोड़ देवी-देवताओं का वास होता है...कि हमारे पास गोमूत्र है, गोबर है, गोशालाएं हैं और गायों के सामने किसी भी वायरस का जोर नहीं चलता (मानो विदेशों में दूध पेड़ों पर फलता हो)...ऊपर से हम धर्मपरायण हिंदू हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि अब पूरे देश में रामराज्य स्थापित हो चुका है, ऐसे में वायरस की क्या मजाल...बहरहाल, आज उन तमाम अभेद्य जगहों में यह वायरस बुरी तरह से फैल चुका है. वे सारे इलाके लाल जोन वाले हॉटस्पॉट बने हुए हैं और इन 'धर्मपरायण' बड़बोले नेताओं में बेचैन चुप्पी छा गई है.

खुद को सर्वज्ञानी मानने वाला सत्ता का धवल शिखर भी ज्योतिषाचार्यों और टोटकानवीसों के चक्कर में पड़ा रहा. वरना थाली पीटो और नौ मिनट तक दीये जलाओ जैसे निरर्थक और खतरनाक खेल न खेले जाते. जिस पर उत्तर प्रदेश के भाजपा के ही विधायक कहते सुने गए कि 'मूर्खता का रिकॉर्ड तोड़ दिया.' न ही जनता-कर्फ्यू के बावजूद लोग सड़कों पर जश्न मनाते, देह रगड़ते हुए जुलूस निकालते–खासकर तब जब लोग बड़ी तादाद में संक्रमित होने लगे थे.

बहरहाल, अपने हिमाद्रि तुंग शृंग और उनके शुद्ध भारतीयों को अब तक यह ज्ञान तो हो ही गया होगा कि वायरसों के हाथ-पैर, कान-आंख नहीं होते और न ही सामान्य अर्थ में वे कोई चेतनशील अस्तित्व हैं. और उन्हें पछाड़ने के लिए अपनी संस्कारगत मूर्खताओं से ऊपर उठना ही होगा. खैर, फरवरी तक भी इस बात का होश नहीं हुआ कि हम इस तबाही से निपटने की तैयारी आरंभ करें. तब तो तबलीगियों की जमात सहित अनेक धार्मिक जमावड़ों के लिए सरकारी तंत्र अनुमतियां बांटने में व्यस्त था. और हुक्मरानों का एक बड़ा समूह 'नमस्ते ट्रम्प' के लिए मोटेरा में नाच दिखा रहा था. अरबों रुपए यूं ही फूंक दिए गए किंतु न टेस्ट किट के उचित प्रबंध किए गए, न ही वेंटीलेटर के! 36000 लोगों पर मात्र एक वेंटीलेटर ही उपलब्ध था.

आज मुंबई, दिल्ली, उत्तर प्रदेश से लेकर अहमदाबाद तक में तेजी से फैलता यह संक्रमण बहुत सारी गोपनीय कथाएं कह रहा है. बहरहाल, आगे चलकर समान रूप से धार्मिकता भरी जहालत में सने कुछ लोगों के बहाने एक पूरी कौम के सर इस महामारी का ठीकरा चतुराई के साथ फोड़ दिया गया.

भारतवर्ष में धंधेबाजों और नेताओं की एक नई पीढ़ी का उदय हुआ है जो हर घटना-दुर्घटना, आपदा या त्रासदी को एक अवसर के रूप में दूह लेती है. निश्चित रूप से यह वर्ग पहले

भी रहा होगा किंतु आज वह इतना ढीठ हो चुका है कि अपनी नीचताओं को 'कौशल' बताने में उसे जरा सी शर्म भी नहीं महसूस होती. शायद यही राष्ट्रीय कारोबारी सदाचार है. कोरोना संकट का भी एक सुनहरे मौके की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है और लंबे अरसे तक किया जाता रहेगा. उधर घर से दूर फंसे लाखों श्रमिकों को मृत्यु से कदमताल करना पड़ रहा है. नन्हें शिशुओं को गोदी में लिए वे हजारों मील की दूरियां पैदल नाप रहे हैं. गरीबों की सुध लेने वाला कोई नहीं. लॉकडाउन के अलावा इस महामारी से निपटने की कोई व्यावहारिक योजना भी नहीं दिखाई दे रही. कुछ लोगों को 500 रुपए की भीख देकर इंसानियत की खिल्ली उड़ाई जा रही है. अर्थव्यवस्था रसातल में पहुंच चुकी है. दूसरी तरफ मेहुल चौकसी और विजय माल्या सरीखे लुटेरों को अड़सठ हजार करोड़ रुपए का उपहार दिया जा रहा है, सरकारी लेखा परीक्षण से मुक्त अरबों का खाता खुल रहा है. भ्रष्टाचार का यह आलम है कि 245 रुपए के परीक्षण किट 600 रुपए में खरीदे जा रहे हैं. वेंटीलेटरों से लेकर नकाबों और दस्तानों तक में घोटाले हो रहे हैं. गोदी मीडिया के गठजोड़ से राष्ट्रवादी शक्तियों ने अल्पसंख्यकों को खलनायक बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है. उन्मादित कर दी गई भीड़ जहां-तहां लोगों की बलि ले रही है. बारूदी माहौल तैयार हो चुका है बस एक चिंगारी लगने की देर है. अपनी क्रूरताओं, कुरूपताओं और असफलताओं को छिपाने के लिए इससे बेहतर उपाय और क्या हो सकता है?

इधर संभवतः आईओसी के कड़े रुख और संयुक्त अरब अमीरात की पढ़ी-लिखी शीरीं ज़बां राजकुमारी हेंद अल कासिमी के 'मधुसिक्त बोलों' को सुनकर आरएसएस सहित अनेक बड़े नेताओं और लैप डांस करते पत्रकारों में तेजी से हृदय परिवर्तन होता दिखाई दे रहा है. रजत शर्मा तक तबलीगियों के प्लाज्मा दान की प्रशंसा में जुट गए हैं. देखना है कि यह उदारता कब तक कायम रहती है.

खैर, यह कैसी विडंबना है कि कोरोना का कहर तभी टूटना था जब विश्व भर में कट्टर धार्मिक दक्षिणपंथी शक्तियां सत्ताओं पर काबिज हैं. अमेरिका के प्रथम पुरुष जिन्हें डोनाल्ड या भारत में शायद डोलान्ड ट्रम्प के नाम से जाना जाता है और जिनके लोम तक भगवा रंग के हैं. (इस नई केश छटा को अपनाने पर संघ में गंभीरता से मंथन होना चाहिए) और महज एक वैज्ञानिक के भतीजे होने के कारण स्वयं वैज्ञानिक होने का दावा करते हैं—उन्होंने अपने देशवासियों को फिनाइल तक पीने की सलाह दे मारी. सुना है इस सलाह पर अमल कर तीसेक लोग खुदा को प्यारे हो गए हैं. वैसे इस 'महान' वैज्ञानिक परंपरा में हमारे प्रधान ट्रम्प से बहुत पीछे नहीं दिखाई देते.

अमेरिका, इटली, फ्रांस आदि के मुकाबले भारत में घटी हुई मृत्युदर का श्रेय दूर-दूर से भी सरकार को तो नहीं जाता. न उचित संख्या में परीक्षण किए जा रहे हैं, न ही अस्पतालों में स्थितियां प्रशंसा के योग्य हैं. न ही किसी प्रकार की औषधि ही अब तक खोजी जा सकी है. ऐसे में सिर्फ लॉकडाउन की वजह से सरकार को इसका सारा श्रेय देना कहीं से भी तर्कसंगत नहीं जान पड़ता. हालांकि यह कहना अभी जल्दबाजी होगी फिर भी अगर इसका श्रेय देना ही है तो वह हक चहुंओर बिखरी गंदगी में पनपते असंख्य रोगों से लगातार लड़ती आ रही हमारी विकसित प्रतिरोधक क्षमता का बनता है. जो न केवल कोविड से असरदार तरीके से निपट पा रही है बल्कि 'ओवररिएक्ट' भी नहीं कर रही—जिसकी वजह से विश्व में इतनी बड़ी तादाद में मौतें हो रही हैं.

जो भी हो इस वायरस ने ईश्वरों को उनकी औकात दिखा दी है. वे सब के सब चाकरों, चमचों और चिल्लरों सहित अपने-अपने देवालयों में जा छिपे हैं. वैसे इसे भी एक अवसर की तरह देखा जाए तो यही समय था जब हम इस पाखंड और अपने संस्कारगत मोहों से पिंड छुड़ा लेते और संविधान का सम्मान रखते हुए वैज्ञानिकता में विश्वास पैदा करते. धर्मों से इतर एक सच्ची धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था कायम करते. विश्वास मानिए यह होगा तभी हम 'एकजन' बन पाएंगे अन्यथा हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, दलित, आदिवासी, अगड़े-पिछड़े, उत्तर-दक्षिण जैसे असंख्य राष्ट्रों में विभाजित घुटनों के बल घिसटते रहेंगे.

•

कोविड से लड़ते योद्धाओं को हम सब की शुभकामनाएं और हार्दिक आभार.

अपना मोर्चा

घृणित प्रपंच से बचें

हिंदी साहित्य में दलित विमर्श को खड़ा करने में हंस का महत्त्वपूर्ण योगदान है और हंस आज भी अपने सामाजिक सरोकारों के प्रति संजीदा है. नवंबर-दिसंबर-2019 अंक दलित-साहित्य, विमर्श और आंदोलन को प्रदान करने के लिए मैं हंस को बहुत धन्यवाद देता हूं. जब से अजय नावरिया के संपादन में हंस के दलित विशेषांक की घोषणा हुई तभी से मैं इस विशेषांक की प्रतीक्षा में था. प्रतीक्षा का एक कारण और भी था. हंस पत्रिका में मैंने भी पहली बार एक समीक्षात्मक लेख भेजा था. यद्यपि इसके छपने के प्रति अधिक आशावान नहीं था और नवंबर अंक में अपने लेख को ना पाकर निराश भी हुआ. खैर, दिसंबर 2019 अंक में 'हिंदी दलित कहानी का शिल्प' शीर्षक से मेरा समीक्षात्मक लेख प्रकाशित हुआ है. साहित्य के क्षेत्र में हंस जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका में इस प्रकार का यह मेरा पहला लेख है. लेख प्रकाशित करने के लिए मैं हंस के इस अंक के अतिथि संपादक अजय नावरिया के साथ-साथ सभी सहयोगी संपादक अनिल तेजराना, नीलम और निर्मल रानी का हृदय से आभार प्रकट करता हूं.

हंस जैसी पत्रिका में इस प्रकार का पहला लेख आने पर जो प्रसन्नता होनी थी वह तो हुई, किंतु जब मैंने लेख पढ़ा तो बड़ा क्षोभ हुआ. मैंने अपने इस लेख के लिए सात कथाकारों—मोहनदास नैमिशराय, रत्नकुमार सांभरिया, जयप्रकाश कर्दम, अजय नावरिया, विपिन बिहारी, रजनी दिसोदिया और अनिता भारती की पांच-पांच कुल 35 कहानियों का चयन किया था. अत्यंत दुख के साथ लिखना पड़ रहा है कि हंस ने लेख के साथ न्याय नहीं किया. सबसे पहले तो रत्नकुमार सांभरिया और उनकी कहानियों का जो समीक्षात्मक विवेचन लेख में था, उसे पूरी तरह हटा दिया गया. हंस के इस अंक के अतिथि संपादक अजय नावरिया और रत्नकुमार सांभरिया का आपसी विवाद जगजाहिर है. उसी विवाद के चलते अजय नावरिया ने रत्नकुमार सांभरिया पर लिखी सामग्री को स्थान नहीं दिया.

जब आप पत्रिका में लेख पढ़ना शुरू करेंगे, उसमें बाकायदा लिखा हुआ है सात रचनाकार, किंतु लेख के अंदर आपको छह रचनाकार ही मिलेंगे. जबकि लेख के अंतिम परिच्छेद में आपको रत्नकुमार सांभरिया का नाम मिलता है. जब उन पर लिखित अंश को ही हटा दिया गया तो उनका नाम भी लेख से हटा दिया जाना चाहिए था. स्पष्ट है कि अजय नावरिया ने अपनी निजी दुर्भावनाओं के चलते यह सब किया जो दलित साहित्य, आंदोलन और वैचारिकी के लिए बिल्कुल भी ठीक नहीं है. संपादन जैसी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी को निभाते हुए अपनी निजी दुर्भावनाओं, ग्रंथियों और पूर्वाग्रहों को दूर रखना चाहिए था. सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह रही कि हंस इन दुर्भावनाओं और द्वेष का मंच बन गई.

यदि रत्नकुमार सांभरिया पर लिखी सामग्री को हटाना भी था तो सात रचनाकारों के स्थान पर छह रचनाकार लिखे जाने चाहिए थे. इतना ही नहीं विपिन बिहारी की भी पांच की जगह तीन ही कहानियों पर लिखी सामग्री ही प्रकाशित हुई और वो भी बहुत ही कम अंशों के साथ. पांच कहानियों की विवेचना के पश्चात् जो निष्कर्ष स्वरूप लिखा गया वह भी सही ढंग से प्रकाशित नहीं किया गया. अंश/वाक्य इस प्रकार से हटाए गए कि आगे की कई जगहों पर तारतम्यता टूट सी गई. संभव है कि हटाए गए अंश संपादन की दृष्टि से अनावश्यक हो, किंतु आगे की तारतम्यता पर ध्यान दिया जाना चाहिए था.

यदि पत्रिका में स्थानाभाव था तो सभी रचनाकारों की पांच की जगह चार या तीन रचनाएं ली जा सकती थीं और उसी के अनुसार संपादन किया जाना चाहिए था. तीन-चार रचनाओं के साथ मुझे पुनर्लेखन हेतु कहा जा सकता था. इस प्रकार की कमियों के साथ लेख प्रकाशित होने पर पाठक लेखक के (मेरे) लेखन पर ही प्रश्न उठाएगा. जिन कथाकारों की रचनाओं का चयन इस लेख के लिए मैंने किया, उनका दृष्टिकोण भी मेरे प्रति नकारात्मक हो सकता है. यह हंस जैसी पत्रिका की प्रतिष्ठा के लिए भी सही नहीं है. लेख प्रकाशित होने के बाद मेरे पास अनेक पाठकों और लेखक-आलोचकों, जिनमें दलित साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर दयानंद बटोही, सूरजपाल चौहान और हीरालाल राजस्थानी जैसे विद्वान शामिल हैं, के फोन आए. अधिकतर लोगों ने सातवें लेखक के बारे में पूछा है. मैं यहां सातवें लेखक यानी रत्नकुमार सांभरिया पर लिखित सामग्री का कुछ अंश संलग्न कर रहा हूं जो इस प्रकार है—

अपनी कहानियों के बेजोड़ शिल्प, दमदार कथानक, भाव-भाषा के दम पर देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़े जाने वाले रत्नकुमार सांभरिया दलित कथाकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं. अपनी पहली कहानी 'फुलवा' से ही उन्होंने अपनी शानदार उपस्थिति दर्ज करवाई और फिर कथा जगत पर छाते चले गए. उनकी कहानियों में दलित पात्रों का रोना-पीटना नहीं है. वे दयनीय अथवा कृपापात्र नहीं है. कहानियों का ताना-बाना इस प्रकार रचा गया है कि पात्रों का संघर्ष बड़ी सहजता और प्रभावी तरीके से पाठक के सामने आता है. पात्रों की जिजीविषा, संघर्ष और स्वाभिमान कहानियों को अन्य दलित कहानियों से अलग पायदान पर खड़ा करते हैं. पात्र किसी भी परिस्थिति में समझौता नहीं करते. वे अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए उन परिस्थितियों से जूझते हैं,

संघर्ष करते हैं और विजयी होते हैं.

रत्नकुमार सांभरिया की कहानियां पूरी तरह आत्मसम्मान, अस्मिता, प्रतिरोध और अंबेडकरवादी चेतना की मिसाल हैं. इनके आगे सवर्ण व्यवस्था तहस-नहस हो जाती है. भाषा पर उनका विशेषाधिकार है. शब्द-विन्यास बेजोड़ हैं. मुहावरों, लोकोक्तियों का प्रयोग उनकी कहानियों को विशेष प्रभाव देते हैं. जैसे हिंदी कहानी और प्रेमचंद एक दूसरे के पूरक हैं. मैं कहानी के शिल्प, कथानक, परिस्थितियों का चित्रण, पात्रों के विश्लेषण और द्वंद्व के आधार पर कहना चाहता हूं कि रत्नकुमार सांभरिया दलित कहानियों के पूरक बन गए हैं. ग्रामीण जनजीवन, आंचलिकता और संवेदना का जो स्तर हमें फणीश्वरनाथ रेणु में मिलता है वही स्तर हमें रत्नकुमार सांभरिया के लेखन में मिलता है. सांभरिया जी की कहानियों के विश्लेषण से मैं एक बात सहज ही कह सकता हूं कि वे रेणु के अधूरे कार्य को पूरा कर रहे हैं.

आश्चर्य की बात है कि जयपुर जैसे महानगर में रहते हुए भी सांभरिया जी के अधिकांश कथानक और पात्र ग्रामीण परिवेश के ही होकर रह गए हैं. जबकि शहरों में दलित कथानक बिखरे पड़े हैं. मुझे उन कहानियों की प्रतीक्षा है जो सांभरिया की कलम से निकलेगी और पूरी तरह शहरी या महानगरीय जीवन और परिवेश को चित्रित करेगी. जिसमें अनेक कथाकार सांभरिया जी से आगे दिखाई पड़ते हैं.

पत्र के अंत में हंस के लिए भी कहना चाहूंगा कि भविष्य में हंस इस प्रकार के घृणित प्रकरणों से बचेगी और अपनी गरिमा को अक्षुण्ण बनाए रखेगी.

सतीश खनगवाल
मो. : 9873639077
ईमेल : satishkhangwal@gmail.com

समाज का आईना

हंस का मार्च अंक पढ़ा. हंस के संस्थापक प्रेमचंद, राजेन्द्र यादव और संजय सहाय के संपादकीय एक साथ पढ़ना अच्छा लगा. प्रेमचंद ने जब हंस की शुरुआत की तो उस समय देश की क्या स्थिति थी प्रेमचंद के संपादकीय से पता चलता है. प्रेमचंद ने हंस का शुभारंभ मार्च 1930 से किया था. उस समय हमारा देश गुलाम था. 1986 में जब राजेन्द्र यादव ने हंस का पुनः प्रकाशन किया तो उस समय की वस्तुस्थिति को अपने संपादकीय में बेबाक ढंग से लिखा. जो राजेन्द्र यादव के विपरीत विचारधारा के पाठक थे उन्होंने हंस के 'अपना मोर्चा' के तहत राजेन्द्र यादव को गालियां भी दीं उसे भी उन्होंने प्रकाशित किया. बहुतेरे लोग राजेन्द्र यादव का संपादकीय पढ़ने के लिए हंस खरीदने लगे. सहमति और असहमति का दौर चलता रहा. आज संजय सहाय भी प्रेमचंद और राजेन्द्र यादव की विचारधारा पर चलकर हंस के कारवां को आगे बढ़ाने का कार्य कर रहे हैं. वास्तव में अगर कहा जाए तो हंस का संपादकीय समाज का आईना रहा है जो आज भी अपने वजूद पर कायम है.

इस अंक में रूपा सिंह की कहानी 'दुखां दी कटोरी सुखां दा छल्ला' की चर्चा सोशल मीडिया पर खूब हुई. मैं हंस का पाठक 1986 से ही हूं. चर्चा सुनकर मैंने भी कहानी पढ़ी. कहानी में पंजाबी भाषा का इतना पुट डाला गया है कि जो उस भाषा के जानकार नहीं हैं उन्हें कहानी समझ में नहीं आएगी. मुझे भी बहुतेरी बात समझ में नहीं आई.

रवि राय की कहानी 'उल्लू का पट्ठा' शुरू से अंत तक पाठकों में कौतूहल पैदा करती है. अंक की अन्य रचनाएं भी पसंद आईं. पहले पत्र-लेखकों का मोबाइल नंबर दिया जाता जाता था. उसे जारी रखा जाए ताकि लेखकों-पाठकों का संवाद भी इसके माध्यम से बना रहे.

शम्भू शरण सत्यार्थी
आदर्शनगर, हसपुरा औरंगाबाद
बिहार पिन-824120
मो. : 9934003500

लॉकडाउन में हंस का साथ

हंस का होली अंक. सबसे ज्यादा छींटे तो रत्नकुमार सांभरिया पर डाल दिए. उनके लंबे खत से तो ऐसा ही लगता है. कितनी बड़ी बेइंसाफी की गयी. अजय नावरिया ने जो नहीं चाहा वह कंवल भारती ने कर दिया. सांभरिया को नावरिया के समकक्ष ला खड़ा किया. अब कितना समय लगेगा इसकी भरपाई में? वैसे मेरा मानना है कि अतिथि संपादन होना ही नहीं चाहिए. संपादकीय सहयोग ले लीजिए इससे अच्छा तो यह है. हरियाणा साहित्य अकादमी की पत्रिका 'हरिगंधा' के साथ ऐसा अतिथि संपादन वाला प्रयोग लगातार कई माह चला. यानी मनमानी करने की छूट होती है यह. इसका विरोध करने वालों में मैं भी शामिल था. मुंशी प्रेमचंद और राजेन्द्र यादव के संपादकीय प्रस्तुत कर अच्छा काम किया.

कहानियों में रवि राय, रूपा सिंह, हेमंत कुमार पारीक व उर्दू से अनुवादित कहानी सभी बढ़िया. 'उल्लू का पट्ठा' ने सब याद दिला दिया. रूपा सिंह ने पंजाबी पुट के बावजूद अपनी बात पहुंचा दी. हेमंत का सवाल वहीं अटका रहता है. क्या ठीक था और कौन ठीक था? उर्दू कहानी समय से बहुत आगे रही. घुसपैठिए वैसा ही कॉलम है जैसा कभी 'सारिका' का नयी पौध हुआ करता था. सुषमा का गूंगा रेडियो खूब गूंजा. इक्कीस दिन के लॉकडाउन में दो-चार दिन तो हंस के इस होली अंक ने भी साथ दिया. साहित्य यही कर सकता है. अगले अंक का इंतजार.

कमलेश भारतीय
हिसार, हरियाणा
मो. : 9416047075

संपादकीय का पुनर्प्रकाशन

मार्च अंक से 'मुड़-मुड़ के देख' स्तंभ के अंतर्गत प्रेमचंद और राजेन्द्र यादव के संपादकीयों के पुनर्प्रकाशन स्वागत योग्य है.

यह वर्षों से प्रतीक्षित था.

मार्च अंक में प्रकाशित रवि राय की कहानी 'उल्लू का पट्ठा' बहुत अच्छी लगी. साहित्य में प्रेम का दर्शन बिंबों के माध्यम से सहज, सरल और आधुनिक तकनीक से हो तभी आज के परिवेश में पठनीय होगा. सिर्फ संवादों द्वारा प्रवाहित ऐसी कहानियों को कृपया अधिक प्रश्रय दें.

हेमंत कुमार पारीक की कहानी 'प्रश्न वहीं अटका है' भी बड़ा प्रश्न उठाती है व भीतर तक झकझोरती है.

'सेन चाइल्ड' (कृष्ण बिहारी) बच्चों की एक नई समस्या की ओर इशारा करती है. सभी स्तंभ अच्छे लगे.

कमल सिंह मेहर
रायपुर, छत्तीसगढ़

पीडीएफ की समुचित व्यवस्था

एक कहानी के नाम ने इतना आकर्षित किया कि मैंने रात को हंस का पीडीएफ सबस्क्राइब किया. आपकी पीडीएफ की सुविधा के लिए साधुवाद. जिसमें पेपर की बचत के साथ ही अगले दिन ही हंस को पढ़ पाने का सुख भी शामिल है. 'दुखां दी कटोरी सुखां दा छल्ला' प्रेम, विभाजन के दर्द, औरत की मजबूरी को बयां करती मीठी पंजाबी से सजी कहानी के लिए रूपा सिंह को बहुत बधाई.

'मुड़-मुड़ के देख' के अंतर्गत प्रेमचंद के लिखे संपादकीय को पढ़ना एक अद्भुत अनुभव रहा. उनके लिए मेरे शब्दों के सागर में से कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जो उनके प्रति मेरी भावनाओं को व्यक्त कर सके. प्रेमचंद के शब्दों में महकती गांधी जी की बातें. कितनी सटीक, कितनी सामयिक. लग रहा था कि प्रेमचंद आज के युवा को समझा रहे हैं.

समय से आगे देखने वाले कुछ ऐसा ही लिख जाते हैं जो कभी भी पढ़ा जाए आज के लिए भी माफिक लगता है. प्रेमचंद और गांधी एक ऐसा संगम है जिसके लिए अपने दोनों हाथों में कुसुम लेकर मैं ज्ञान की इस सरिता में उनको अर्पित करती हूं. गजेन्द्र रावत की लघुकथा अच्छी है.

सीमा जैन 'भारत'
201 संगम अपार्टमेंट,
माधव नगर (विजया नगर) 474002
मो. : 8817711033
ईमेल : seema.jain822@gmail.com

दमदार कहानी

मार्च 2020 के हंस में रानू मुखर्जी की कहानी में भी दम है. कहानी 'सुनी नहीं जाती हर आहट' में उन्होंने लिखा है—मैं अच्छी पत्नी बनना भी नहीं चाहती. आजीवन मास्टरनी बनकर ही जिऊंगी. पुरुष की दासी बनकर नहीं. जबकि इसी कहानी में पहले नायक ने उसकी प्रशंसा में कहा है कि तुम एक सुखी गृहणी जरूर बनोगी.

केदारनाथ सविता
लालडिग्गी, मिर्जापुर-231001 (उ.प्र.)
मो. : 9935685068

गायब कथा-तत्त्व

अंक यथा समय हॉकर दे गया था पर कोविद को लेकर मची आपाधापी में इसे पढ़कर समाप्त करने में विलंब हुआ. सारी कहानियां तो अपनी जगह पत्रिका के अनुरूप लगीं मात्र एक को छोड़कर. पता नहीं तरुण भटनागर की लंबी कहानी में क्या विशेषता दिखी जो आपने इस अंक में जगह दी. सच कहूं तो पूरी कहानी में कथा तत्व नाम की चीज है ही नहीं. संवेदनहीनता को प्रदर्शित करने के लिए कथाकार ने ऐसी असहज स्थिति की संरचना की है. पढ़ते हुए पाठक को ऊब होती है. अगर किसी की हड्डी टूट जाए और तत्काल चिकित्सा की व्यवस्था न हो तो आध घंटे में उसे बेहोशी आने लगती है पर इस कथा नायक की हथेली टूटकर अलग हो जाती और फिर कोई कुत्ता जबड़े में दबाए भागता है और उसके पीछे नायक और बस के लोग होशोहवास में भागते हैं मानो नायक पूरी तरह सक्षम हो. ये सारी स्थिति संवेदनहीनता दिखाने के लिए गढ़ी हुई जान पड़ती है.

बिंदु विकास
ईमेल : binduvikas@gmail.com

बेजोड़ कहानी

हंस के मार्च अंक में कहानी 'दुखां दी कटोरी सुखा दा छल्ला' पढ़ी. इतनी दमदार और पंजाबियत में पगी कहानी बहुत अरसे बाद पढ़ी. कृष्णा सोबती की याद आ गई. बड़ा रस आया कहानी में डूब कर. भावना और यथार्थ का ऐसा सुंदर नैरेशन कम पढ़ने को मिलता है. बरसों बाद कोई कहानी बांचते हुए आंसू छलके. कहानी की भाषा और प्रसंगों में ऐसा तारतम्य बुना गया है कि मैं चार बार रोया और कहानी के अंत में भी बिलखता रहा. विभाजन देखा तो नहीं लेकिन उसकी मार खूब झेली है. फिर भी विभाजन के कथ्य से मेरा कभी मोह नहीं रहा. पर इस कहानी ने दिल में कहीं बसी पीड़ा को हलके से लेकिन शिद्दत के साथ ऐसा छेड़ा कि घिघी बंध गई. रूपा सिंह की कलम को सलाम.

लेखिका के परिचय से नहीं लगा कि उनका पंजाब से गहरा लगाव रहा है लेकिन ऐसी कहानी किसी गैर पंजाबी ने लिखी होगी, यह विश्वास करना मुश्किल है. मैं हंस 30 सालों से पढ़ रहा हूं लेकिन कहानी एक-दो ही पढ़ पाता हूं. लंबी कहानी तो बहुत ही कम लेकिन कहानीकार का नाम मेरे लिए अनजान होते हुए भी मैंने शीर्षक देखकर सबसे पहले इसे पढ़ने का मन बना लिया. पहले वाक्य और 'बेबे' शब्द ने ऐसा सम्मोहित किया कि पढ़ता ही गया. मैं भी अपनी मां को बेबे बुलाता था. लगता है कथ्य के साथ कुछ आत्मकथात्मक पहलू भी जुड़े हैं. लेखिका से उम्मीद की जानी चाहिए कि भविष्य में भी ऐसी प्यारी रचनाएं उनकी कलम से निकलती रहेंगी.

सुभाष सेतिया
मो. : 9910907662

महीन बुनाई

मार्च 2020 के हंस में सुपरिचित कथाकार तरुण भटनागर की कहानी 'जख्मेकुहन' पढ़ी. तरुण की हर कहानी अलग तरह से पाठक को बांधे रखती है, उनके पास जीवन अनुभवों से अर्जित ऐसी टटकी भाषा है जो अंदर उतरती चली जाती है. वे लंबी कहानियां लिखते हैं, जाहिर है कि पाठक को लंबे समय तक साथ रखने कि कला जिसके पास होगी, वही इस प्रकार के शिल्प को साध सकता है, निस्संदेह तरुण के पास वह कला प्रचुर मात्रा में है. कहानी में अंग्रेजी के अध्यापक हैं, जिन्हें शांति के नाम पर तमाम तरह की क्रूरताएं करने में आनंद आता है, वे तमाम हरकतें कहानी में विस्तार से दी हुई हैं इसलिए मुझे फिर से बताने की जरूरत नहीं है. जरूरत इस बात की है कि कहानी पढ़ते हुए मुझे मैकाले का वह कथन याद आया जिसमें वे उन्नीसवीं सदी के मध्य में कहते हैं कि भाषा के माध्यम से ही किसी देश की संस्कृति को बदला का सकता है. मैकाले ने चालाकी के साथ जिस अंग्रेजी को भारत में लागू किया उसका उद्देश्य केवल भाषा तक सीमित नहीं था, बल्कि उसने युवाओं की एक ऐसी पीढ़ी तैयार की जो शक्ल-सूरत से भारतीय थी लेकिन विचारों से अंग्रेज. स्कूल के अंग्रेजी अध्यापक उन्हीं भाषायी गुलामों की संतान हैं, जो अपने भाषायी अभिजात्य को बचाए रखने के लिए पक्षी, पेड़ और बारिश सबसे नफरत करते हैं. तरुण की कहानी भाषा का विरोध नहीं करती बल्कि उस दंभ का पर्दाफाश करती है जो अंग्रेजी दां मानते हैं. तरुण भटनागर का ध्यान इस ओर विशेष रूप से है इसलिए लग्जरी बस की जिस खिड़की पर सुंदर का कटा हाथ चिपका है उस खिड़की के पास वाली सीट पर भद्र महिला और एक बिजनेसमैन बैठे हैं. महिला अंग्रेजी की किताब पढ़ रही है. यह बताना कहानीकार के लिए जरूरी था इसलिए कि भद्र लोक किसी के हाथ कटने जैसी वीभत्स घटना से भी चिंतित नहीं होता और उनके पास बैठे व्यापारी की नजर तो उस भद्र महिला पर है, उसे किसी के हाथ कटने या दुखी होने से क्या मतलब. कहानी कम शब्दों में सुंदर के दुख को व्यक्त करती है. जिस सुंदर को गांव में रहना पसंद है, जो बारिश को उत्सव की तरह मानता है, उसे पक्षियों का चहचहाना और बड़े पेड़ों की छाया का सुख लेना पसंद है. कहानी किसी भाषा या किसी व्यक्ति के विरोध में न होकर उस प्रवृत्ति के विरोध में है, जो प्रवृत्ति आदमी को क्रूर, अमानवीय और असामाजिक बना रही है. तरुण भटनागर बहुत महीन बुनाई करते हैं इसलिए उनकी कहानियां अपूर्व धैर्य की मांग करती हैं. उन्हें लगातार अच्छा लिखते रहने के लिए बधाई.

सूरज पालीवाल
वर्धा

भाषा संयम के चितेरे

इस माह हंस की प्रतीक्षा की दो वजहों में से एक वजह तरुण भटनागर की कहानी 'जख्मेकुहन' है. कारण की इनकी कहानियों का मैं मुरीद हूं. बहरहाल इस कहानी के संदर्भ में भी उन्होंने मुझे निराश नहीं किया. फैंटेसी की जमीन पर कथाएं यूं भी आसान नहीं होतीं और फिर इस तरह की कहानियों के लिए जिस भाषा संयम का कौशल चाहिए होता है, वह समकालीन कथा पीढ़ी में महज गिनती के युवा कथाकारों को हासिल है. खैर, फैंटेसी के बहाने अपने समय के यथार्थ को देखना और पकड़ना दोनों के सूत्र इस कथा में मौजूद है. सुंदर के कटे हाथ के लिए किसी के पास संवेदना तो दूर, समय भी नहीं है. यह इस बदलते समय का कटु यथार्थ है, जिसमें सबके पास अपने अपने द्वीप है, और वह अपने द्वीपों में ही खुश है. हां, एक चीज जरूर खटकी कि कहानी के पूर्वार्द्ध में जिस अंग्रेजी शिक्षक के चरित्र निर्माण पर आपने पर्याप्त श्रम किया, वह कहानी के उत्तर भाग से गायब है. प्रशासनिक अधिकारी होने के कारण संभवतः कोरोना संक्रमण में इस समय आपकी जिम्मेदारियां बढ़ गई होंगी. बहरहाल, कहानी के लिए आपको बधाई.

प्रदीप जिलवाने
ईमेल : jilwane.pradeep@gmail.com

अपना–अपना नजरिया

तरुण भटनागर की कहानी 'जख्मेकुहन' पढ़ी. यह कहानी हंस के मार्च 2020 अंक में है. इस कहानी की कुछ लोगों ने यह कहकर आलोचना की है कि लेखक ने फैंटसी के नाम पर कहानी में ऐसी घटनाओं को शामिल किया है जो स्वीकार्य नहीं हैं. जिन घटनाओं पर लोगों को आपत्ति है उनमें अंग्रेजी विषय पढ़ाते समय विघ्न के नाम पर परिंदों की चहचहाहट रोकना, परिंदों के घोंसलों को तहस-नहस करना, पेड़ के नीचे चूहे मारने की दवा जमीन में डाल कर परिंदों को मरवाना इत्यादि. पाठकों की आलोचना में आगे जो कहा गया है वह यह कि लेखक अपनी कहानी में एक नीम पेड़ की बात करता है जिसे वह भारी-भरकम विशाल पेड़ के साथ उसकी शाखाओं को चारों ओर फैलने की बात करता है. और उस पर परिंदे आकर न बैठ सकें इसलिए उसे भी अंग्रेजी शिक्षक के माध्यम से कटवा देता है. पाठकों को इस बात पर भी आपत्ति है कि कहानीकार बारिश और चिड़ियों से प्रेम करने वाले बच्चे को सजा देता है. पाठक का सवाल है कि क्या अंग्रेजी पढ़ाने वाला अध्यापक इतना निर्दयी होता है...? पाठकीय आपत्ति यह भी है कि कहानीकार अपनी कहानी में उस बच्चे को सिर्फ इसलिए बेंत से मारता है, सजा देता है कि वह बच्चा चहकती चिड़ियों को, खेत को, बारिश को देखता है. यह पाठकीय आरोप भी मढ़ दिया जाता है कि कहानीकार उस मासूम बच्चे जो खेत, चिड़ियों, बारिश से प्यार करता है उसका एक हाथ भी बस में कटवा देते हैं. सवाल यह भी उठाया गया है कि यह कैसी कहानी है? जिसमें जीवन नहीं है, प्यार नहीं

है, आसमान नहीं है, पेड़ का जीवन नहीं है चिड़ियों की उड़ान–चहचहाहट नहीं है, बच्चों की मासूमियत नहीं है.

कहानी 'जख्मेकुहन' पर सोशल मीडिया पर कुछ इसी तरह की प्रतिक्रिया पढ़कर मेरी भी जिज्ञासा हुई कि मैं भी इस कहानी को पढ़ूं. यह कहानी थोड़ी लंबी है, 16 पेज की.

कहानी को देखने-समझने का सबका अपना-अपना नजरिया होता है. आज कहानी उस दौर में आ गई है जब कहानी में बहुत सारे प्रयोग हो रहे हैं. जब कहानी को हम स्थूल रूप में देखने की कोशिश करेंगे तो कहानी के प्रति नजरिया भी हमारा स्थूल ही होगा. जब अंग्रेजी शिक्षक को हम अंग्रेजी शिक्षक ही मान लेंगे, जब परिंदों को हम परिंदा ही मान लेंगे, जब चूहे मारने की दवा को हम चूहे मारने की दवा ही समझ लेंगे, अंग्रेजी की पढ़ाई के दरमियान विघ्न के रूप में दूर से आ रही आवाजों को हम आवाज ही समझ लेंगे, जब बस में कटे हुए हाथ को हम कटा हुआ हाथ ही मान लेंगे, जब गुंडा कुत्ता को हम गुंडा कुत्ता ही मान लेंगे तो कहानी के प्रति हमारा नजरिया जाहिर है एकदम स्थूल ही होगा. यह कहानी, कहानी की घटनाओं को स्थूल रूप में देखने के बजाय उन्हें आज के सामाजिक तंत्र में आरोपित करके देखने की मांग करती है. आज का कारपोरेट कल्चर एक विशेष किस्म के वर्ग को प्रमोट करता है और इस वर्ग में शामिल होने के लिए आज एक ऐसी दौड़ दौड़ी जा रही है जहां हर किस्म की अमानवीयता की गूंज सुनाई देती है. यूं भी अंग्रेजियत की संस्कृति कारपोरेट कल्चर का एक सिंबॉल ही है जहां किसी किस्म की संवेदना के लिए जगह ही नहीं है. इस कल्चर की अमानवीयता को दिखाने के लिए ही कहानीकार ने विभिन्न फेंटेसी का सहारा लिया है.

मारे जाने वाले वे परिंदे आज हमें अनेक रूपों में दिखते हैं चाहे वह सड़कों पर भटकने वाला मजदूर हो, चाहे नौकरी से निकाले जाने वाला मजदूर. ये घटनाएं मृत्यु ना होकर भी मृत्यु के समतुल्य ही हैं. इन मजदूरों के साथ कारपोरेट कल्चर जिसमें उच्च और मध्यवर्ग दोनों शामिल हैं हर किस्म की अमानवीयता बरतता है. कहानी में निजी बस और सरकारी बस का जो जिक्र है वह सीधे-सीधे कारपोरेट वर्ग और साधारण वर्ग के बीच भेद को दिखाता है.

यह जो कटा हुआ हाथ है, कारपोरेट वर्ग द्वारा मजदूरों, श्रमिकों आम लोगों के हक को काटे जाने का प्रतीक है. साधारण वर्ग अपने कटे हुए हकों के कारण जीवन से एकदम लहूलुहान है. आम लोगों के हिस्से को गुंडा कुत्ता जैसे समाज के खूंखार लोग छीन कर ले जा रहे हैं. कहानी में हक (जो कि कटे हुए हाथ के रूप में कुत्ते के जबड़े में कैद है) को छीनने के विरुद्ध भी प्रबल प्रतिरोध की घटना है, जो कि सरकारी बस के लोगों के द्वारा एकजुट होकर गुंडा कुत्ते के विरुद्ध लड़ा जाता है.

एक आदमी के हाथ कट जाने वाली घटना कारपोरेट कल्चर के लिए एक बहुत साधारण घटना है जिसके लिए वह उफ्फ तक नहीं करता और अपनी गति में ही वह आगे निकल जाता है.

यह अमानवीयता समाज के हर कोने में दृश्यमान है जिसे कहानी समझाने की कोशिश करती है.

कहानी का मूल पात्र सुंदर जो सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है अंत में शहर से गांव की ओर लौट जाना चाहता है. वह भी इसलिए क्योंकि गांव में अभी भी थोड़ी बहुत संवेदना बची हुई है.

असल में सच्चाई यह है कि आज समाज की वास्तविक घटनाएं जीवन को हमसे दूर ले गई हैं, कहानी इसी सच्चाई को उभारती है और जब यह सच्चाई उभरकर सामने आती है तो पाठक को थोड़ी तिलमिलाहट होती है. कई बार लोग सच को स्वीकार नहीं कर पाते और उस सच्चाई को ही नकारने की कोशिश करते हैं. यह नकार ही असल में उनकी नजर में कहानी को आलोचना के दायरे में लाती है. यह कहानी को देखने का एकदम स्थूल नजरिया है जबकि कहानी को अगर सूक्ष्म तरीके से देखें परखे तो यह कहानी हमें जीवन के करीब ले जाने की कोशिश करती है. समाज में व्याप्त हर अमानवीयता के विरुद्ध हमारे भीतर एक आक्रोश पैदा करती है. दरअसल यही सूक्ष्म नजरिया ही कहानी का असल पक्ष है जिसे देख पाना हर पाठक के लिए संभव भी नहीं है.

बहरहाल मुझे यह कहानी अच्छी लगी इसके लिए तरुण भटनागर जी को बधाई.

रमेश शर्मा
रायगढ़ छत्तीसगढ़

आग्रह

• **हंस** के जिन सदस्यों का वार्षिक शुल्क खत्म हो गया है या होने जा रहा है वे कृपया अपना शुल्क शीघ्र भिजवाएं. चैक अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. (Akshar Prakashan Pvt.Ltd.) के नाम से हो. पत्र/राशि भेजते समय अपनी सदस्यता संख्या लिखें या नई/पुरानी सदस्यता एवं ईमेल का उल्लेख अवश्य करें ताकि किसी भी प्रकार के दोहराव से बचा जा सके.

• सदस्यता राशि बैंक में जमा करते समय कार्यालय को अवश्य सूचित करें.

• डाक से हंस को भेजी जाने वाली प्रत्येक रचना में अपना नाम/पता/दूरभाष/ईमेल स्पष्ट अक्षरों में लिखें. लिफाफे के बाहर रचना-विधा का उल्लेख करें. रचना के साथ डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य संलग्न करें एवं रचना की एक प्रति अपने पास सुरक्षित रखें. छोटी रचना के लिए पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं है.

• रेतघड़ी/रपट/अपना मोर्चा (पत्र) की शब्द संख्या अधिक न हो ताकि अधिक से अधिक लोगों को उचित स्थान दिया जा सके. रेतघड़ी की रपट के लिए शब्द-सीमा 500 की हो तो हमें सुविधा होगी. **–वीना उनियाल**

सांप्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता से परे

नामवर सिंह

कुछ दिन पहले एक युवा लेखक स्वयं प्रकाश की कहानी पढ़ी थी 'पार्टीशन'. कहानी कुर्बान भाई की है. सन् सैंतालीस के बंटवारे में जो दंगे हुए उसमें अपना सब कुछ खो देने के बाद भी वे पाकिस्तान नहीं गए. इधर-उधर भटकने के बाद अंत में एक कस्बे में 'थोड़ा-सा अपनापन, थोड़ी-सी सामाजिक सुरक्षा, थोड़ा-सा आत्मविश्वास और थोड़ी-सी सहजता उन्होंने अर्जित की.' कुछ पढ़े-लिखे रोशन खयाल युवकों के संपर्क में आकर पुराने मजहबी दायरे से निकले ही थे कि हिंदू समाज ने उन्हें उनकी औकात समझा दी और वे फिर उसी मजहबी दायरे में वापस जाने के लिए मजबूर हो गए. लतीफ भाई उनकी मदद के लिए आ पहुंचे और देखा गया कि टोपी पहनकर दोनों मस्जिद की तरफ चल दिए. इससे पहले कुर्बान भाई किसी से कह रहे थे–'आप क्या खाक हिस्ट्री पढ़ाते हैं? कह रहे हैं पार्टीशन हुआ था. हुआ था नहीं, हो रहा है; जारी है.'

जिस तरह एक कुर्बान भाई मुसलमान होने पर मजबूर किए गए उसी तरह इस बीच कोई भगवान दास भी हिंदू हुए ही होंगे, पर संयोग से ऐसी कोई कहानी पढ़ने को नहीं मिली. कहानी की कमी हकीकत ने अलबत्ता पूरी कर दी, और समाचार पत्रों में एक दिन अचानक यह पढ़ने को मिला कि सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय कोई दर्जन भर लेखकों के साथ जय जानकी जीवन यात्रा पर निकल पड़े हैं और इस क्रम में वे अयोध्या से जनकपुर तक जाएंगे. ऐसी ही यात्रा 'कहां है द्वारिका' की जिज्ञासा के साथ द्वारिका धाम की भी संपन्न हुई. जो अज्ञेय को 'असाध्य वीणा' बजाते हुए सुन चुके हैं उन्हें 'आंगन के पार द्वार' के बाद अयोध्या के पथ पर अज्ञेय को देखकर आश्चर्य नहीं हुआ, किंतु जिनके मन में अनिश्वरवादी 'शेखर' के जनक और 'रैडिकल ह्यूमनिस्ट' अज्ञेय की प्रतिमा सुरक्षित है वे इस नए रूप से चकित अवश्य हुए होंगे. रहस्यवादी अज्ञेय हिंदू हुए हैं. हिंदू होने में उन्हें काफी प्रयास करना पड़ा है और अब अपने आप को हिंदू कहने में गर्व का अनुभव होता है. अब वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि भारतीय परंपरा में...धर्मनिरपेक्ष न सिर्फ हम हो नहीं सकते, हमें होना चाहिए भी नहीं, होने की कोशिश भी नहीं करनी चाहिए.

(नवभारत टाइम्स, 23 सितंबर 1984)

एक समय था जब शेखर ने उद्धत स्वर में कहा था : "मैं ईश्वर को नहीं मानता; मैं प्रार्थना भी नहीं मानता" लेकिन तब शेखर बच्चा था और बात भी 1941 की है : स्वाधीनता प्राप्ति से पहले की. यह वह युग था जब हिंदी के अधिकांश प्रमुख लेखक धर्मनिरपेक्षता के लिए संघर्ष करना राष्ट्रीय कर्तव्य समझते थे. भारतेंदु के साथ हिंदी में नवजागरण की जो लहर फैली उसका मुख्य स्वर मध्य युगीन धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए साहित्य में मानववाद की प्रतिष्ठा था. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने नास्तिकता का आरोप झेलते हुए भी 'सरस्वती' के माध्यम से उस ज्ञानकांड का प्रसार किया जिसमें वैज्ञानिक दृष्टि और बुद्धिवाद पर विशेष बल था. रामचंद्र शुक्ल ने 'विश्व प्रपंच' के नाम से अर्न्स्ट हैकेल की पुस्तक के अनुवाद के साथ अपनी लंबी भूमिका के द्वारा इस वैज्ञानिक दृष्टि को पुष्ट किया. प्रेमचंद 'गोदान' में मेहता के मुंह से साफ शब्दों में कहते हैं–"जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हंसी आती है. यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किए डालती है. जहां जीवन है क्रीड़ा है चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष है और उपासना है."

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' के माध्यम से अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए कहा कि "आजकल सर्व धर्म समन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था. सभी धर्मों के बाह्याचारों और अंतर संस्कारों में कुछ न कर विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है. कबीर इनके कठोर विरोधी थे. उन्हें अर्थहीन आचार पसंद नहीं थे, चाहे वे बड़े से बड़े आचार्य या पैगम्बर के ही प्रवर्तित हों या उच्च से उच्च समझी जाने वाली धर्म पुस्तक से उपदिष्ट हों. बाह्याचार की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचारहीन गुलामी कबीर को पसंद नहीं थी."

स्वाधीन भारत ने जब धर्मनिरपेक्षता को संवैधानिक स्तर पर राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया तो उसके मूल में भारतीय नवजागरण और राष्ट्रीय जागरण की वही चेतना प्रेरक शक्ति थी जिसकी अभिव्यक्ति हमारे साहित्य में हुई थी. स्वाधीन भारत के साहित्य में धर्मनिरपेक्षता की उस भावना का विकास रुद्ध तो नहीं हुआ, किंतु कुछ आधुनिकतावादी लेखकों के द्वारा अवरोध उपस्थित करने का प्रयास अवश्य हुआ. अज्ञेय के परवर्ती साहित्य में व्यक्त होने वाला धार्मिक रुझान उसी प्रयास का एक अंग है. आरंभ में आधुनिकतावाद ने प्रश्नमूलक बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टि का आभास दिया और ऐसा प्रतीत हुआ कि उसमें आस्था से अधिक अनास्था पर जोर है. किंतु जिस त्वरा से आधुनिकतावादी लेखक आस्था की खोज में किसी धार्मिक विश्वास की शरण लेने के लिए अग्रसर हुए उससे आधुनिकतावाद संबंधी आरंभिक भ्रम दूर हो गया. धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' इस धार्मिक आस्था की दिशा में पहला प्रयास था. इस काव्यनाटक में कृष्ण के नाम पर ईसाइयत

के 'प्रभु' की अवतारणा ने इस धार्मिक आस्था के उस पश्चिमी स्रोत का उद्घाटन कर दिया जिसे शुद्ध भारतीयता के आवरण में छिपाने की कोशिश की जा रही थी.

यों तो साम्राज्यवाद शुरू से ही अन्य पिछड़े देशों के साथ भारत में भी धार्मिक पुनरुत्थानवाद को संगठित करके अपना शोषण चक्र जारी रखने के लिए प्रयत्नशील था, किंतु दूसरे महायुद्ध के बाद इस धार्मिक पुनरुत्थान का संगठन और भी अधिक आवश्यक हो गया, क्योंकि यह कम्युनिज्म-विरोध का सबसे प्रभावशाली अस्त्र था और इसके द्वारा नव स्वाधीन देशों में सोवियत संघ के प्रभाव तथा आर्थिक विकास को रोकने में मदद मिलती थी. यह धार्मिक पुनरुत्थानवाद एक ओर राजनीति में प्रतिक्रियावादी राजनीतिक संगठनों के रूप में प्रकट हुआ तो दूसरी ओर साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति एक विशेष प्रकार के औपनिवेशिक आधुनिकतावाद के रूप में हुई. यह आकस्मिक नहीं है कि हिंदी के जो आधुनिकतावादी लेखक धार्मिक आस्था अथवा धार्मिक संवेदना पर जोर देते हैं वे उसी सांस में कम्युनिज्म और सोवियत संघ का भी विरोध करते हैं.

हिंदी के आधुनिकतावादी लेखकों की धार्मिक आस्था में 'आधुनिकता' इतनी ही थी कि वह फ्रांसीसी अस्तित्ववाद तथा जापानी 'जेन' बौद्धमत से प्रेरित थी. वैसे इन दोनों विचारधाराओं में निहित धर्म काफी पुराना था, किंतु औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में प्रचलित होने के कारण वह 'आधुनिकता' का आतंक उत्पन्न करने में समर्थ था.

कालक्रम में जैसे-जैसे एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के देश स्वाधीन होते गए और वियतनाम-युद्ध में अमरीका मुलम्मा उतर गया. शीतयुद्ध का जोर कम हुआ, अस्तित्ववाद और जेन बौद्धमत का उपयोग समाप्त हो गया और उनके स्थान पर पश्चिम के अपराध बोध से ग्रस्त चित्त में 'तृतीय विश्ववाद' (थर्ल्ड वर्ल्डिज्म) की विचारधारा उत्पन्न हुई. यह 'तृतीय विश्ववाद' एक प्रकार से उन्नीसवीं सदी के 'प्राच्यवाद' (ओरिएंटलिज्म) का ही नया संस्करण है. पश्चिम के औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों के संवेदनशील लेखकों के लिए तथाकथित 'तीसरी दुनिया' के देश मुक्तिदूत प्रतीत हुए. तीसरी दुनिया की वन्य प्रकृति, आदिम संस्कृति, धार्मिकता, सामुदायिक जीवन पद्धति, स्वतः स्फूर्तता और तनावहीनता को विकसित देशों के संकट से ग्रस्त लेखकों ने रामबाण समझा. उनके लिए यह एक प्रकार से 'प्रति-संस्कृति' (काउंटर कल्चर) है जो औद्योगिक संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह के साथ ही एक विकल्प भी प्रस्तुत करती है. वैसे इस 'तृतीय विश्ववाद' की सृष्टि पश्चिम ने अपनी आवश्यकता के लिए की, किंतु केवल उपयोग मूल्य ही न था, बल्कि पश्चिम को इसके 'विनिमय मूल्य' का भी एहसास हुआ. फलतः यह विचारधारा शीघ्र ही पिछड़े देशों को निर्यात की गई और कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत इस 'तृतीय विश्ववाद' की विचारधारा को आयात करने में पीछे न रहा.

आपातकाल और उसके बाद भारत में इस विचारधारा के सबसे प्रबल प्रचारक निर्मल वर्मा हैं. 1968 में प्राग-प्रवास के दौरान सोवियत कम्युनिज्म से मोह भंग होने के बाद से ही निर्मल जी को एक स्थानापन्न आस्था की तलाश थी. संयोग से इसी बीच सोल्जेनित्सिन को सोवियत संघ से निकाल दिया गया. सोल्जेनित्सिन ने सोवियत संघ में विकसित समाजवाद की कटु आलोचना के साथ एक विशेष प्रकार के पूर्व स्लाव गौरव युक्त धार्मिकता का उद्घोष किया. आपातकाल ने निर्मल जी को जैसे सोल्जेनित्सिन के साथ तादात्म्य का अवसर प्रदान कर दिया और वे हिंदी में सोल्जेनित्सिन के नैतिक जेहाद की भूमिका में उतर पड़े. अज्ञेय ने अयोध्या, जनकपुर, द्वारिका की यात्रा की, तो निर्मल जी अमृत घट की खोज में प्रयाग के कुंभ मेला में गए और लौटकर 'सुलगती टहनी' शीर्षक यात्रा वृत्तांत लिखा. इस धार्मिक यात्रा के बाद से कान्हा-किसली अभयारण्य में शेर देखने गए, फिर सिंगरौली जैसे पिछड़े इलाके में औद्योगिक निर्माण से उत्पन्न होने वाले 'सांस्कृतिक विस्थापन' की विभीषिका देखने गए और इन स्थानों की प्रत्यक्षानुभूति से जो ज्ञानोदय हुआ उसका मार्मिक विवरण प्रस्तुत किया. निर्मल जी की ये यात्राएं अज्ञेय की यात्राओं से अनेक बातों में विशिष्ट हैं, किंतु सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने ये यात्राएं अकेले की क्योंकि जीसस ने अपना सलीब अकेले ढोया था. कुल मिलाकर उन्होंने यही आभास दिया कि उन्हें जिस 'धार्मिक बोध' की उपलब्धि हुई है वह उनके अपने प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम है, पर उनके निष्कर्षों को देखें तो अधिकांश वही हैं जो रूसी लेखक सोल्जेनेत्सिन के हैं. इसे रहस्यवाद का चमत्कार ही कहना चाहिए कि उसका अनुभव होता तो हर एक को अलग-अलग है, किंतु उसका स्वरूप एक-सा ही होता है.

आकस्मिक नहीं कि गांधी शांति प्रतिष्ठान के अहिंसा विद्यालय द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला में निर्मल जी ने वही बात कही जो उनसे पहले जज्ञेय ने कही अर्थात् 'सेक्युलरिज्म' या धर्मनिरपेक्षता अर्थहीन है. वैसे उन्होंने इसके साथ धर्मावलंबन का भी विरोध किया किंतु अंततः इन दोनों के ऊपर एक विशेष प्रकार के 'धार्मिक बोध' की हिमायत की. किंतु यह धार्मिक बोध कोई अमूर्त और अनाम धर्म नहीं, बल्कि मूलतः हिंदू धर्म ही है. इसका स्पष्टीकरण उनके एक अन्य लेख में हो जाता है जिसका शीर्षक है 'क्यों भारतीय संस्कृति को जीवित रखना जरूरी है?' इस लेख में उनकी मान्यता है कि ईसाई, इस्लाम और सिख धर्म जहां अपने आदर्श से स्खलित होने पर प्रतिष्ठानगत संकीर्णता अर्थात सांप्रदायिकता के शिकार हो जाते हैं वहां हिंदू धर्म के सांप्रदायिक होने की आशंका नहीं है क्योंकि वहां कोई प्रतिष्ठान नहीं है. निष्कर्ष यह कि अंतिम शरण हिंदू धर्म.

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर भारत में आधुनिकतावादी लेखकों ने धार्मिकताबोध के द्वारा 'सेकुलरिज्म' का विरोध करके वस्तुतः अपने हिंदूपन का आग्रह ही व्यक्त किया है जो आपाततः सांप्रदायिक न होते हुए भी हमारी राष्ट्रीय एकता की नींव को खोखला करता है और एक तरह से अमरीकी साम्राज्यवादी षड्यंत्र में हिस्सेदार है.

(हंस, सितंबर 1986)

सुषम बेदी का जाना...

रेखा सेठी

न हन्यते

सुषम बेदी हिंदी की प्रिय रचनाकार थीं. यूं तो सभी रचनाकार अपने पाठकों के प्रिय होते हैं लेकिन सुषम जी अपने गरिमामय व्यक्तित्व एवं विनम्र शालीनता के साथ प्रिय और लोकप्रिय दोनों थीं. किसी भी साहित्यिक कार्यक्रम में जाइए, जहां सुषम जी होंगी कुछ लोग (विशेष रूप से छात्र) उनके साथ फोटो खिंचवाने का अवसर ढूंढने लगते और सुषम जी ने भी कभी किसी को निराश नहीं किया. उनकी आंखों में एक मासूम भोलापन था. बच्चों जैसी जिज्ञासा, जो जीवन के हर पल का जश्न मनाना जानती थी.सुषम बेदी से मेरा परिचय लगभग पंद्रह साल का रहा है. उनसे जब भी मिलना हुआ हर बार परिचय गाढ़ा होता गया.

2005 दिसंबर में,सुषम जी भारत में थीं और हमने उन्हें अपने कॉलेज में आमंत्रित किया. वे इंद्रप्रस्थ कॉलेज की पूर्व-छात्रा रही हैं, इस नाते कॉलेज से उनका रिश्ता और गहरा था. जब वे आईं तो एक खास आकर्षण उनके पूरे व्यक्तित्व से झलक रहा था, जिसे अंग्रेजी में 'लेडीलाइक' कह सकते हैं. 'मैनर' और 'एटिकेट' से भरपूर. अपनी बात बहुत मिठास के साथ धीरे-धीरे रखतीं. कहीं भी स्वर उत्तेजित नहीं होता लेकिन अपने कहे की दृढ़ता उनकी आंखों में उतर आती. उन्होंने छात्राओं के बीच अपनी एक कहानी पढ़ी और फिर भारत और

सुषम बेदी

अमरीका की जीवन-शैली के अंतर पर बात चल निकली. उन्होंने बताया कि कैसे 'अमेरिका की जो जीवन-शैली है उसमें लड़कियों पर सामाजिक दबाव उतने नहीं होते तो यहां भी लड़कियों को कोशिश करनी चाहिए कि वे अपना जीवन खुल कर जिएं.' औपचारिक चर्चा के बाद हम दोनों साथ-साथ कॉलेज घूमने लगे. वे पीछे स्विमिंग पूल तक जाकर देखना चाहती थीं कि अब खेल का मैदान और तरणताल कैसा है? रास्ते में हमारी बातें होती रहीं. उन्होंने कहा कि 'अब के हिंदुस्तान को देखकर उन्हें बहुत अच्छा लग रहा है. युवा जोड़े साथ-साथ नजर आते हैं. पहले तो लड़के और लड़कियों के साथ होने पर इतनी बंदिशें थीं जो काफी अस्वाभाविक था.' मुझे उनका ऐसा कहना बहुत रोचक लगा. मैं उन्हें देखती रही. मेरे सामने एक साठ साल की महिला थी जो नैतिकता के सवाल पर, मूल्यों की दुहाई देकर दुनिया के बदल जाने का रोना रोने की बजाय खुश हो रही थी कि युवा वह जीवन जी पा रहे हैं, जैसा कि उनको जीना चाहिए. उनकी आंखों में बहुत मिठास और पूरा कनविक्शन था. जैसे उन्हें पूरा विश्वास हो कि वह जो कह रही हैं, बस वही ठीक है. उनकी बातचीत में धर्म पर होने वाली लड़ाइयों या अन्य अंधविश्वासों से जुड़े संदर्भों पर भी चर्चा हुई और उन्होंने लड़कियों से ताकीद की कि 'उन्हें नए जमाने में नए सिरे से जीना सीखना चाहिए और जीवन में ऐसे समझौते नहीं करने चाहिए जो उनसे पहली पीढ़ी को घुट्टी में पिलाए गए थे.' उनकी यह बात मेरे मन में अटक गयी, 'नए जमाने में नई तरह जीना'. मैं उनके लेखन को इस नजरिए से परखने लगी. अपने जीवन में उन्होंने हमेशा सामाजिक रूढ़ियों के दबावों को परे करके रचनाशील होने का अभ्यास किया.

सुषम जी ने कविता, कहानी, उपन्यास सभी लिखे लेकिन ज्यादातर उनकी कहानियों और उपन्यासों की ही चर्चा हुई. अपने लिखने को लेकर वे बड़े मजेदार ढंग से बताती थीं कि कैसे कहानियां स्वयं उनके भीतर कुलबुलाने लगती हैं. लिखना उन्होंने स्कूल-कॉलेज के दिनों से ही शुरू कर दिया था. 'कॉलेज में किसी गंभीर विषय पर आलोचना लिखने को कहा जाता तो मेरे अंदर बड़े जोर से कहानी आने लगती और जब तक मैं रात भर जाग कर वह कहानी लिख नहीं लेती मुझसे कोई और काम नहीं होता.' तो कथा-कहानियां उनके पास यूं ही चली आतीं. उन्होंने ग्यारह उपन्यास लिखे— हवन, लौटना, कतरा-दर-कतरा, इतर,

गाथा अमरबेल की,नव भूम की रस कथा, मोर्चे, मैंने नाता तोड़ा,पानी केरा बुदबुदा और चार कहानी संकलन–चिड़िया और चील, यादगारी कहानियां, तीसरी आंख, सड़क की लय. उनके कविता संग्रह हैं–शब्दों की खिड़कियां तथा इतिहास से बातचीत. उनकी अधिकांश प्रकाशित कृतियां उनके विदेश प्रवास के बाद ही लिखी गईं लेकिन अपने लिए प्रवासी लेखन की अलग नाम-पट्टी उन्हें कतई स्वीकार नहीं थी. वे बड़ी अदा से कहतीं,'तो क्या मैं भारतीय नहीं हूं?'

संभवतः सभी प्रवासी लेखकों के लिए अस्मिता का द्वंद्व बहुत तीव्रता से कचोटता रहता है. इसीलिए दो परिवेशों के बीच त्रिशंकु की-सी स्थिति उनके लेखन की केंद्रीय थीम है. सुषम जी के उपन्यासों और कहानियों में भी यही थीम बार-बार नए सिरे से रूप बदल-बदलकर आती है. फिर भी अपनी ऐसी किसी भी पहचान से उन्हें परहेज रहा जिसमें उन्हें भारतीय लेखक के अतिरिक्त किसी और रूप में देखा जा सकता है. उनका पहला उपन्यास 'हवन' (1989) अमरीकी परिवेश में भारतीय मन और संस्कार की टकराहट को अत्यंत तीव्रता के साथ उपस्थित करता है. उस समय इस विषय पर कोई उपन्यास नहीं लिखा गया था. कुछेक कहानियां अवश्य आई थीं. सुषम जी ने इस उपन्यास के साथ हिंदी में इस स्थिति को उपन्यास के विस्तृत कैनवस पर बुना.

सुषम जी के लिए यह उनके बहुत करीब की स्थिति थी. उनका कहना था कि उनसे पहले विदेशी परिवेश पर जो लेखक लिख रहे थे चाहें वे निर्मल वर्मा हों या कृष्ण बलदेव वैद, वे कुछ समय विदेश में रहकर वापस अपने देश लौट आए थे और उनकी गिनती भारत के हिंदी लेखकों में होती थी पर उन जैसे लेखक, जो आठवें-नवें दशक में अमेरिका में जाकर बसे और यहीं बस गए, उनकी स्थिति कुछ भिन्न थी. 'हवन' उपन्यास का अनुवाद अंग्रेजी में हुआ जिसे ऑक्सफोर्ड ने दक्षिण एशियाई साहित्य की एक सीरीज के अंतर्गत छापा. उसमें बाकी उपन्यास रवीन्द्रनाथ टैगोर से लेकर पाकिस्तान, बांग्लादेश आदि के प्रतिनिधि लेखकों के थे. 'हवन' उपन्यास का चयन इसलिए किया गया था कि वह हिंदी साहित्य में एक नई धारा का प्रतिनिधित्व कर रहा था. अमेरिका में हिंदी डायस्पोरा के प्रतिनिधि के रूप में हिंदी साहित्य में विकसित होने वाली प्रवासी लेखन की नई धारा को रेखांकित करने के लिए इस उपन्यास की विशेष उपस्थिति बनी. इस उपन्यास को इस श्रृंखला के अंतर्गत लिए जाने से सुषम जी के लिए विश्व साहित्य के दरवाजे खुल रहे थे लेकिन उनके मन में अफसोस भी था क्योंकि वे बार-बार यही कहतीं कि 'भारतीय लेखन की मुख्यधारा में होना ही मेरा अभीप्सित था और अमरीका तब तक मेरे लिए एक अस्थायी निवासी था. अपना इस तरह देखा जाना मुझे भला नहीं लगा. भीतर एक मूक विरोध उठता रहा कि मैं अमेरिकी साहित्यकार भला कैसे हो गई? अमेरिका की भाषा तो हिंदी है ही नहीं, तब भला अमेरिकी लेखक कैसे? वहां तो मुझे अंग्रेजी के जरिए से ही जितना जानते हैं, सब जानते हैं या अमरीका के हिंदी पढ़ने वाले भी हिंदी की लेखिका के रूप में. यही मेरी पहचान थी. अब एक अलग पहचान थोपी जा रही थी मुझ पर जबकि वह मेरी पहचान बन ही कैसे सकती है. अगर अमेरिकी लेखक होना था तो फिर अंग्रेजी में लिखती.' उनका यह आग्रह अंत तक बना रहा. हालांकि बाद के वर्षों में उन्होंने प्रवासी लेखन की अपनी विशिष्टता पर गंभीरता से विचार किया और उसे दोहरी संवेदनाओं की मिलन भूमि के रूप में देखा.

1993 में लंदन में कॉमनवेल्थ के साहित्य सम्मलेन में, दक्षिण एशियाई उपन्यासों का लोकार्पण हुआ. इस कार्यक्रम में उन्हें ऑक्सफोर्ड की ओर से आमंत्रित किया गया. वहां आमंत्रित लेखकों में वे उम्र में सबसे छोटी थीं. यू.के. में भारतीय लेखकों गिरीश कर्नाड, अनंतमूर्ति, मृणाल पांडे आदि सब के अनुवाद हुए थे और अनुवाद साहित्य-उत्सव के केंद्र में थे. यह सब उनके लिए नितांत नया अनुभव था और उससे उनके मन में यह धारणा दृढ़ होने लगी कि 'हिंदी के लेखक कहलाने लायक लोग वही हैं, जो भारत में छपने वाली मुख्य साहित्यिक पत्रिकाओं में छपते हैं. वही असली कसौटी है और जो यहां नहीं छपते, वे कितने भी बड़े लेखक क्यों न हों, उनकी पहचान नहीं बन पाती.' इसके बाद उन्होंने तय किया कि उनकी कहानियां *हंस, धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान* जैसी मुख्य पत्रिकाओं में छपती रहें और यही पत्रिकाएं वे खुद भी पढ़ती रहीं. अमरीका से लिखने वाले बहुत कम लोग ही थे जो इन पत्रिकाओं में छपते थे. हिंदी कथा लेखन में उषा प्रियंवदा का नाम जरूर आता था लेकिन उनके अतिरिक्त कोई ज्यादा लेखक नहीं थे.

नवंबर 2019 में सुषम जी भोपाल में होने वाले साहित्य उत्सव 'विश्वरंग' में शामिल होने भारत आई थीं. उस कार्यक्रम में मैं भी उनके साथ थी. यद्यपि हम अलग-अलग होटल में ठहरे थे लेकिन पूरा-पूरा दिन लगभग साथ रहते थे. वहीं मैंने उनसे एक लंबा इंटरव्यू रिकॉर्ड किया. हमने तरह-तरह की बातें कीं. निजी जीवन से लेकर, उनके लेखन तक और फिर प्रवासी साहित्य पर. सुषम जी की यह बड़ी खासियत थी कि अपनी सोच और पूरी बातचीत में वे साफ और दो-टूक बात करती थीं, बिना किसी दुराव या

आग्रह के. कुछ बातें वे बार-बार करती थीं जैसे उनकी पहली कहानी, 'जमी बर्फ का कवच' का 'कहानी' पत्रिका में छपना. इस विषय पर बात करते ही उनकी आंखों में चमक आ जाती जैसे अतीत में लौट गई हों और 'कहानी' पत्रिका के तत्कालीन संपादक श्रीपतराय की बात अब भी उनके कानों में गूंजती है कि 'लिखती रहना, लिखने से हाथ खुल जाता है.' जिस तरह का उत्साह और रोमांच किसी स्कूल की लड़की को किसी बड़े लेखक की सम्मति मिलने से हो सकता है, हर बार यह किस्सा सुनाते हुए सुषम जी की आंखों में वही रोमांच उतर आता. यूं भी उनके स्वभाव की सहजता में थोड़ा जोश और नटखटपन था जो उनके साथ बिताए पलों को यादगार बना देता.

उनके पास ऐसे कई यादगार किस्से थे. जब ब्रसेल्स में अज्ञेय जी से मिलना हुआ और उनके कहने पर उन्होंने नवभारत टाइम्स के लिए बेल्जियम के साहित्यिक-सांस्कृतिक जीवन पर लिखना शुरू किया. विदेश जाने से पहले दूरदर्शन में नाटकों में काम किया और फिर कहानियां लिखते-लिखते जब एक दिन राजेन्द्र यादव ने यूं ही कह दिया कि उपन्यास लिखो तो 'हवन' लिखना शुरू कर दिया. उनके हर काम में एक 'स्पोनटेनिटी' का भाव था, जैसे जिंदगी कोई चुनौती हो और उसे मजे लेकर जीना है. जो करना है उसमें पूरी तरह रम जाना है. एक बार मैंने उनसे उनकी कहानियों और उपन्यासों के पात्रों के विषय में पूछा कि आप कैसे तय करती हैं कि 'पात्र के चित्रण के प्रति लेखकीय व्यवहार क्या होगा?' उन्होंने झट से जवाब दिया कि 'यह सब उन्होंने कभी नहीं सोचा, बस कहानियां उनके भीतर जाग जाती हैं.' मैं बस उन्हें देखती रही. मेरे सामने वह लेखक थीं जिन्होंने चार दशक की लेखकीय यात्रा को इतनी सहजता से पार कर लिया और स्रष्टा या लेखक होने का दंभ उन्हें छू भी नहीं गया था. एक व्यक्ति के रूप में जो पारदर्शिता उनके व्यक्तित्व में थी, वही उनके लेखन में भी थी.

2015 में न्यू जर्सी की रट्गर्स यूनिवर्सिटी में हिंदी की एक बड़ी कॉन्फ्रेंस होने जा रही थी. मैंने भी उसके लिए अपना पर्चा भेजा था. सुषम जी को पता चला तो उन्होंने कहा कि 'मैं चाहूंगी कि साहित्य पर मेरा एक सेशन होने वाला है, मैं चाहूंगी कि तुम उसमें शामिल रहो.' लेकिन मैंने तो अपना पर्चा 'दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी शिक्षण' को लेकर भेजा था. दिल्ली से निकलने के दो दिन पहले मुझे सुषम जी का फोन आया और उन्होंने बताया कि वे उस कॉन्फ्रेंस में एक कहानी वर्कशॉप करने वाली हैं. अमेरिका में जितनी भी ऐसी कॉन्फ्रेंस होती थीं, उनमें सुषम जी की कहानी वर्कशॉप बहुत लोकप्रिय थी.'कहानी मंच' बनाने का भी एक विचार बन रहा था. उसकी प्रक्रिया यह थी कि सब अपनी-अपनी कहानी पढ़ते और फिर उन कहानियों पर परिचर्चा होती. कहानी लिखने की विधि बताई जाती और उसे कैसे सुधारा जा सकता है या सराहा जा सकता है, इस पर बातचीत होती थी. उन्होंने उस कहानी वर्कशॉप में मुझे अपनी कहानी पढ़ने को आमंत्रित किया लेकिन इस बार भी मैंने उनसे कहा कि मैं तो कहानी लिखती ही नहीं. मैं तो केवल आलोचना के क्षेत्र में काम करती हूं तो उन्होंने मुझे कहानियों पर टिप्पणी करने के लिए एक्सपर्ट की हैसियत से उस में भागीदारी करने का अवसर दिया. साथ ही एक और दायित्व दिया कि मैं एक शोध-पत्र प्रस्तुत करूं जिसमें हिंदी में कथा लेखन और हिंदी में प्रवासी कथा लेखन का तुलनात्मक अध्ययन हो. कॉन्फ्रेंस में जाने से दो दिन पहले यह दायित्व मुझे काफी बड़ा लगा पर मैं उन्हें नहीं कह सकी. मैंने बहुत-सी कहानियां, किताबों के अंश फोटो कॉपी किए और अमेरिका जाने वाली चौदह घंटे की फ्लाइट के लिए अपना काम तय कर लिया. यह मेरी पहली अमेरिका यात्रा थी. सुषम जी वहां कोलंबिया यूनिवर्सिटी में पढ़ाती थीं. इतनी लंबी फ्लाइट और ठीक सात समंदर पार करके दुनिया के दूसरे कोने में पहुंचने का उत्साह और घबराहट दोनों शामिल थे पर वहां जिन लोगों ने बहुत कुछ सरल बना दिया और जिन से फिर बहुत घनिष्ठ रिश्ते बने उनमें सुषम जी रहीं. न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी की प्रोफेसर गैब्रिएला निक इलिएवा इस सम्मेलन की प्रेरक सूत्रधार थीं और सुषम जी की घनिष्ठ मित्र भी जो 1995 से उनकी अभिन्न रही हैं. हिंदी सेवी अनूप भार्गव तथा न्यूयॉर्क में ही हिंदी पढ़ाने वाली उनकी पत्नी रजनी भार्गव, अनिलप्रभा जी और भी कुछ लोग जिनके नाम मुझे याद नहीं लेकिन उनकी उपस्थिति और सुषम जी से उनका स्नेह संबंध मुझे बखूबी याद है. सब एक बड़े परिवार की तरह थे.सुषम जी सबके बीच काफी लोकप्रिय थीं. कहानी के सेशन में उन्होंने अपनी एक कहानी 'स्विमिंग पूल' सुनाई. कहानी में दो संस्कृतियों के बीच की टकराहट को साफ पढ़ा जा सकता था. एक भारतीय लड़की जो अमेरिका में पहुंच गई थी और स्विमिंग पूल का उसका अनुभव बिल्कुल नया था. भारत में तो वस्त्रों के बिना या स्विमिंग पूल में जाते हुए भी अंत तक तौलिया लपेटकर ही आगे बढ़ती रही जबकि वहां उसने देखा कि अमेरिकी महिलाएं अपने देह के प्रति बेफिक्री से स्विमिंग पूल में तैरने के बाद नग्न नहा रही हैं. जैसे उनको अपने आसपास किसी के होने का एहसास न हो. इस कहानी की व्याख्या करते हुए मैंने इस अंतर की ओर ध्यान

दिलाया कि जिस देश की संस्कृति में देह का कोई महत्त्व नहीं, 'फूटा कुम्भ जल-जल ही समाना' के भाव से देह उस फूटे कुंभ की तरह है जो जल के जल में समाने का जरिया भर है, वहां देह की पवित्रता तथा देह को लेकर कितने बंधन हैं. जबकि अमेरिकी संस्कृति में देह को लेकर इतना विचार विमर्श होता है और फिर भी देह के प्रति एक लापरवाही का भाव है. उन्हें यह व्याख्या बहुत पसंद आई और हमारे बीच व्यक्तिगत दोस्ती के साथ-साथ एक वैचारिक घनिष्ठता की भी शुरुआत हुई.

उनके कई उपन्यासों और कहानियों के अंत पर मेरा इत्तेफाक नहीं भी होता था. मुझे ताजुब होता कि जिस सुषम बेदी को मैं जानती हूं वह तो बहुत तरक्कीपसंद हैं जो मेरी छात्राओं से भी यह कहती हैं कि 'नए जमाने में नयी तरह से जीना सीखो' तो फिर उनकी नायिकाएं इस तरह के समझौते कैसे कर सकती हैं? खासतौर पर 'लौटना' उपन्यास पढ़ने के बाद मुझे कुछ निराशा हुई थी. जब मैंने सुषम जी से पूछा तो उन्होंने कहा कि यदि 'तुम इसे स्त्री-विमर्श के नजरिए से पढ़ोगी तो निराशा ही होगी लेकिन अगर यह सोचकर पढ़ो कि यह सब व्यवस्थाएं उन स्त्रियों के साथ आईं जो भारत से अमेरिका आईं और भारत के संस्कार अपने मन में लिए आईं. उनके लिए बिल्कुल नाता तोड़ लेना या जिसे यूं कहें कि रेडिकल परिवर्तन से जीवन जीना और सोचना इतना आसान नहीं था.' लेकिन बाद में जब उन्होंने 'मैंने नाता तोड़ा' उपन्यास लिखा तो अपने मन में उन्होंने इस परिवर्तन को आत्मसात कर लिया था कि एक लड़की अपनी अलग पहचान बनाकर विदेश की मिट्टी में सिर उठाकर जीने का फैसला कर सकती है. उनका कहना था कि 'उसे यह दृढ़ता और आत्मविश्वास बहुत हद तक अमरीकी परिवेश से मिलता है.'

सुषम जी ने खुद भी अमरीकी परिवेश से बहुत कुछ सीखा था. वे उन सभी तत्वों को ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहतीं जो उन्हें प्रगतिशील लगते, फिर चाहें वह जिस भी समाज और संस्कृति से आते हों. किसी भी व्यक्ति की निजता का सम्मान अमेरिकी समाज में रहते हुए और दृढ़ हो गया और एक तरह से जीवन-मूल्य बन गया. उनकी बातचीत और व्यवहार में वह सब सहज झलकता. हिंदुस्तान में कभी जब उनसे छोटी उम्र के लोग उन्हें 'मैम' कहते तो वह हंसती क्योंकि अमेरिका में तो छात्र भी उन्हें उनके नाम से पुकारते थे और वही उनके लिए अधिक सहज था क्योंकि उससे किसी तरह का अनुक्रम नहीं रहता था. आप बातचीत करते हुए एक साथ एक धरातल पर होते हैं. यही उन्हें अधिक सुखकर लगता.

रिश्तों को निभाना वे बखूबी जानती थीं. पूरे देश-दुनिया में फैला उनके मित्रों का घेरा, एक तरह से उनके चाहने वालों का घेरा है. उनके जाने के बाद ये सब लोग सुषम जी को याद करते हुए एक-दूसरे से जुड़ रहे हैं और अपने अनुभव साझा कर रहे हैं. इन सबकी बात करते हुए उनके पति राहुल बेदी की बात न करूं तो शायद सुषम का होना ही अधूरा रह जाएगा. बहुत कम दंपती ऐसे होते हैं जो एक दूसरे को इतना टूटकर चाहते हों. मुझे सुषम जी से अपनी कोई बातचीत याद नहीं जब किसी न किसी रूप में राहुल जी का जिक्र न आया हो. कई बार तो उन्होंने उनसे अपने संबंध के बहुत निजी प्रसंग भी साझा किए. जब हम भोपाल में मिले तो उन्होंने कई बार कहा कि राहुल ने मुझे कभी किसी बात के लिए नहीं रोका लेकिन इस बार मेरी तबियत की वजह से वे मुझे बार-बार यही कहते रहे कि 'क्यों जा रही हो?' आज भी शायद राहुल जी खुद को संयत नहीं कर पा रहे हैं. यह जानते हुए भी कि उस राह से कोई लौटता नहीं और सबको यह अंतिम यात्रा अकेले ही करनी होती है. राहुल जी खुद को यह पूछने से रोक नहीं पाते, 'क्यों जा रही हो?'

10 नवंबर, 2019 की शाम मैं उन्हें आखिरी बार मिली थी. भोपाल में हम सब साथ थे. खूब बातें हुईं. जनवरी में हमारे कॉलेज में एक अंतरराष्ट्रीय सम्मलेन होने वाला था, वे उसमें कहानी वर्कशॉप करने की योजना बना रही थीं. हमने कॉलेज के अनुवाद एवं अनुवाद अध्ययन केंद्र में उनकी कहानी का अंग्रेजी अनुवाद किया था. यह वही कहानी थी जिसका प्रकाशन 'हंस' के प्रवासी साहित्य विशेषांक में हुआ था. यह अधेड़ होती कौशल्या के 'कितने-कितने अतीत' को याद करने की कहानी है जिसमें मृत्यु की आहट थी...वे जनवरी में नहीं आ पायीं. भोपाल में जब हम अंतिम बार मिले थे उन्होंने इतनी आत्मीयता से मेरा हाथ अपने हाथों में लेते हुए प्यार से देखा और कहा कि 'वे मुझे कितना मानती हैं.' उस स्नेह में कुछ ऐसी ताकत थी कि न जाने क्यों मुझे तब ही भ्रम हुआ कि फिर शायद हम ऐसे कभी न मिल पाएं. आज रह-रहकर उनकी वह छवि याद आ रही है. उनके हाथों की नरमी और गर्माहट को मैं अब भी अपने हाथों पर महसूस कर पा रही हूं. अलविदा सुषम जी!

❐

संपर्क : एसोसिएट प्रोफेसर
इंद्रप्रस्थ महिला कॉलेज, दिल्ली यूनिवर्सिटी, दिल्ली
ईमेल : reksethi@gmail.com

कहानी

मकड़ी का जाला

•

रत्नकुमार सांभरिया

जन्म : 06-1-1956
शिक्षा : एम.ए.,बी. एड., बी.जे.एम.सी.
कृतियां : हुकम की दुग्गी, काल तथा अन्य कहानियां, खेत तथा अन्य कहानियां, दलित समाज की कहानियां, एयरगन का घोड़ा (कहानी संग्रह). समाज की नाक (एकांकी-संग्रह), वीमा, उजास, भभूल्या. बांग और अन्य लघुकथाएं, प्रतिनिधि लघुकथा शतक (लघुकथा-संग्रह). मुंशी प्रेमचंद और दलित समाज (आलोचना).

संपर्क : भाड़ावास हाउस, सी-137, महेश नगर, जयपुर-302015,
मो. : 9460474465
ई-मेल : sambhriark@gmail.com

देवरा पूजन था. घुमक्कड़ धंधा-पानी कर वक़्त से लौट आए और 'बनजारा टी स्टाल' पर बैठे गपिया रहे थे. मूढ़े-मूढ़ियों, पत्थर-डोली, जमीन-अंगोछे उनकी जमाते जमी थीं. बंदर-बंदरिया, रीछ-भालू, नांदिया (नंदी बैल) साथ थे. सपेरे अपनी जांघों पर टोकरियां धरे थे. उनमें कोबरा, सांप, गोहरा, पाटनगोह, नेवला, अजगर, कातक (कार्तिक माह) के तूमड़ों (बेल पर सूखते फल) से अलसाए पड़े थे. दो मदारियों ने अपने-अपने कंधों पर कबूतर और बाज बैठाए थे. बहुरूपिया थानेदार के भेस था. कुचबंदा और कुचबंदन बच्चों के खिलौने लिए बैठे थे.

थानेदार के द्वारा खून काढ़ती गाली बक कर दुत्कारी-फटकारी मदारिन 'बनजारा टी स्टाल' आ कर रुकी. चप्पलें हाथों में लिए भागी आई थी, तीतरी-सी. पैरों में कांटे-कंकड़ चुभे थे. डीलें दर्द कर उठी थीं. हांफनी (हांफ) छूटी थी. मुंह खुला था. सांसें अटकी थीं, टूटी, टूटी. कलेजा उछल मुंह को आता, निकला, निकला.

सांसें भूल रो-रो बावली हुई मदारिन उन सबके बीच खड़ी थी. वह शहर की ओर हाथ फेंक-फेंक बुबहाटा (जार-जार) रोए जाती, जबान उपड़ती (मुखर) नहीं थी. शब्द गले की नली में अटके थे, कहीं.

उसे मूर्च्छा-सी छा गई. माथा पकड़ नीचे बैठ गई, मारी-सताई गऊ-सी. लोगबाग सकते में थे. उनकी सकत (सूझ) बोथा थी, ''बड़ी तेज तर्रार, इज्जतदार, खुद्दार मदारिन को यह क्या हुआ, आखिर?''

जन-मन समिति की सचिव मिलन देवी वहीं बैठी चाय पी रही थी. उसे डेरा बस्ती का सर्वे करने निकलना था. समिति का क्लर्क गणेशीलाल साथ था. मिलन को मदारिन की बदहवासी गहरी लगी. संवेदना के मारे तड़प उठी. उसने हाथ में पकड़ा चाय का कप नीचे रखा और पगला-सी रही मदारिन के पास जा बैठी. कांच और सोने की चूड़ियों भरा अपना गोर-गट हाथ उसके गंदे-संदे कंधे पर रखा. झिंझोड़ा. मदारिन को चेत आया. मिलन ने अपनापा लिए उससे पूछा–''बताओ भी तो सही क्या बनी, बहन?''

मिलन डेरों की ओर आने-जाने लगी थी. डेरों की मदद-इमदाद शरीक थी. सर्वे कर डेरों को छत दिलाने का आकांक्षी सपना दिखाने लगी थी. मदारिन की भयभीत आंखें

टिमटिमातीं-टिमटिमातीं पहचान गईं. संबल पाई. उठी सांसें सहज हुईं. उसने आंखों के झरते किनारे पल्लू में ले लिए और बिसूरते होंठों पर हथेली रख ली. आंखें डबडबाती रहीं. होंठ खुलते-भिंचते थे, आंधी के वक़्त पट भड़भड़ाकर खुलते बंद होते हैं. मिलन ने उसका कंधा झिंझोड़कर फिर पूछा—''बहन बताओगी, आखिर बात क्या हुई?''

मिलन के आग्रह मदारिन की हिम्मत बंध गई. दोनों हाथ शहर की ओर फेंकती कहने लगी—''वो-वो लखीनाथ सपेरो अर म्हारो मरद सहर का थाणा के सामे बड़ का पेड़ तले बीड़ी पीवै. मैं भी बीड़ी चासे थी. बंदूक अर लाठी लेर दो पुलसिया थाणा ते आया अर दोनवां ने हांक ले गया, डांगरां की नाईं, हटकारता, फटकारता, मारता.'' उसने आंसुओं भरा चेहरा हथेलियों में लिया और बुक्का फाड़कर रो पड़ी थी.

घुमंतुओं की पूरी की पूरी जमात उसे घेरे थी. मदारिन की रुदनभरी व्यथा सुनकर सबको जैसे सांप सूंघ गया. सांसें सरक गईं. अब क्या हो?

मिलन ने मदारिन की हिम्मत बंधाते 'हें' कही.

मदारिन ने आंसुओं और पसीना लिथड़ा चेहरा पोंछा और सुबकियां-सुबकियां बताने लगी—''हां बहन, नपूता, दुसट, बापखाना थानेदार ने साइकिल बंधी लखीनाथ की टोकरी खुलवा के देखी. उमें तीन चीज बसत निकलीं. बेचारो सपेरो बरोबर गिड़गिड़ातो रह्यो. हाथ जोड़ दिया. दूसरा की चीज हैं, फेरन जाऊं.''

''फिर?'' सोच-अफसोस से मिलन का माथा ऐसा घूमा, धरती आसमान एक हुए. उन चीजों की निमित्त वह खुद रही. सीने पर खरोंच-सी लगी और कलेजे धुक-धुक होने लगी.

''राकसस (राक्षस) थानेदार कतई ना मान्यो. पहला लाठियों से खूब कूट्यो-पीट्यो अर फेर पैर में गोली मार खींच-घसीट जेल में बंद कर दियो. लार म्हारो आदमी भी. मेरो तो जी निकल गयो. वो गुण्डो थानेदार मेरा ते इतनो भूण्डो बोल्यो बदन जल गयो. सिर पे पैर धर भागी मैं तो.''

मदारिन की जबान कंठ अटक गई और बेहोशी-सी छा गई. असहाय खानाबदोशों की चिंता और घनी हो गई थी.

अत्याचार-अनाचार का विरोध मिलन का मिशन रहा. गरीब की पीड़ा चित्त में रखने वाली मिलन को सेवा-सूत्र मिला. उसने अपनी बोतल से मदारिन को पानी पिलाया और उठ खड़ी हुई थी.

थाने का खौफ. सांसत में सांस. एक-एक घुमंतू का चेहरा लटका, भय भरा था. उनमें भले सौ एकता थी, गरीब का एका, बंद मुट्ठी की तरह होता है खाली-पीली. खुद कसे रहो. थाना-कचहरी. पैसा या बूता.

मिलन नजर घुमाती चेहरा-चेहरा पढ़ती गई. उदासियां भांपती गई. लाचारियां आंकती गई. ढांढस बंधाती बोली—''शहर के बाहर सदर थाना है, सबके सब वहां पहुंचो. समूची डेरा बस्ती के लोगों को खबर कर दो. वहां जाएं, अपनी ताकत दिखाएं. अपने-अपने जीव-जिनावर जरूर साथ लेकर जाएं. पुलिस घुमंतुओं से ज्यादा उनके जानवरों से डरती है.''

मिलन की प्रेरणा. बारूद को तीली. खानाबदोश अपने-अपने जानवरों को पकड़े, जीवों को लिए यह कहते शहर की ओर कूच कर गए थे, 'देवरा आकर धोकेंगे, अब.'

डेरो में खबर हुई. जिसने सुना, दौड़ा आया. दौड़ पड़ा उधर, जिधर कारवां बढ़ा जाता था.

आदमी दौड़ाकर लखीनाथ की पत्नी रमतीबाई को झाला गया. वह बकरी, उसके बच्चे, नेवला, लड़के और डेरा अपने कुत्ते के भरोसे छोड़ भागी आई, भय से कांपती-धूजती, गिरी, अब गिरी. उसका दुपट्टा उड़ा जाता था. बाल उड़े जाते थे. चप्पलें बार-बार फिसलतीं, निकलतीं थीं. चिंता मारे मरी जाती, रोई-रोई, सदमाई. सिर धुनती, पुलिस

को बुरी-बुरी गालियां बकती, बड़बड़ाती बैन करती—''म्हारे ब्याहो नाग ने डस लियो. उका भाई की चूड़ी पहरी, उके भी गोली मार दी. अरे पुलसियो गरीब सतायो, कीड़ा पड़ेगा.''

रमतीबाई पहुंची. धूनाराम बनजारा ने अपनी दुकान भिड़ा दी थी और मुंडासा सिर पर बांधता शहर की ओर चल पड़ा था.

रमती ने मिलन की ओर देखा. मिलन ने रमती की ओर गौर किया. रमती चुन्नी का पल्लू अपने मुंह में खोंसे थी. रुलाई, सुबकियां और बिसूरन एकसार थी, उसकी. उसमें मिलन के प्रति ढाह अंखुआने लगा था. हिरण की ठे सा वह ढाह सिंह की दाहड़-सी उस आफत के सामने निरीह था. पैर तो नहीं छुए, हां आंसू झरते उसके नेत्र मिलन के चरणों की ओर निहारते रहे, गौरैया से—''मदद करें, बहन.''

उसने अंगुली की पोर से आंखों के किनार पोंछते सुबकते-सुबकते कहा—''बहन जी, थम ही म्हारा माई-बाप हो. म्हारा आदमी ने पुलस से बचा लो. नहीं जीती मर जाऊंगी, मैं.''

मिलन ने रमती के धूजते हाथ अपने हाथों में भर लिए और सांत्वना देती बोली—''घबराओ मत रमती. मैं हूं. जल्दी करो, गाड़ी में बैठो. घबराई मदारिन रुंआसी बैठी है न वह, उसे भी बैठाओ.''

दूसरी ओर खड़ी मोटरगाड़ी की ओर अंगुली से इशारा कर वह उधर बढ़ गई थी—''आओ.''

रमती सपेरन और सरकी मदारिन ने शहर आते-जाते मोटरगाड़ी देखी जरूर थी, छुई नहीं थी.

गाड़ी में बैठकर मिलन ने उनसे फिर आग्रह किया—''जल्दी करो, गाड़ी में बैठो.''

अपने-अपने कपड़े समेट गाड़ी की पिछली सीट पर बैठ गई थीं, दोनों. भीगी कबूतरी-सी, सिकुड़ी, सिमटी, कंपकंपाती. उनके भीतर भय, आंखों में सर्द आंसू थे.

लखीनाथ के पैर में गोली मार दी? किस हाल होगा,वह? मिलन इतनी चिंतित, उद्वेलित और आक्रोशित थी, गाड़ी थानाधिकारी के पोर्च के सामने ला खड़ी की, सीधी. उसने गणेशीलाल को गाड़ी पार्क कर वहीं इंतजार करने को कहा और खुद रमती और मदारिन को साथ लिए थानेदार के कक्ष में प्रविष्ट हुई बेधड़क. उसकी निर्भीकता के दो बूते रहे, पूर्व एम.एल.ए. स्व. भंवरदास की हवेली की बहू और खाते-पीते घर की बेटी. जन-मन समिति की सचिव.

एस.एच.ओ. की कुर्सी पर एडिशनल एस.पी. ओमपाल बैठा था. उसके कैप और डंडा टेबल पर रखे थे. पचासेक के एडिशनल का भारी-भरकम बदन वर्दी डाटे था. आंखें चढ़ीं-चढ़ीं, नाक होंठों दबी थी. बाईं बगल पड़ी कुर्सी पर डी.वाई.एस.पी. कर्मलाल और दाईं बगल की कुर्सी पर एस.एच.ओ. धारसिंह विराजे थे. राजफास न हो जाए, प्रकरण को लेकर गहरी मंत्रणा थी, उनके बीच.

मिलन का धड़धड़ाते कदमों यूं अंदर चले आना, खाली पड़ी कुर्सी पर ठसके से बैठ जाना, सूगली-सी दो घुमंतू महिलाओं को अपने अगल-बगल की कुर्सी पर बैठा लेना, एडिशनल एस.पी., डिप्टी एस.पी. और एस.एच.ओ, तीनों की आंखों में चुभा सूल-सा. अखरा आफत-सा.

मिलन सुंदर तो थी ही. आंखों में अंजे काजल की धार, होंठों पर लगी लाली की टीप और कपोलों पर लगा रोज उसकी खूबसूरती को हवा दे रहे थे. एडिशनल एस.पी. कभी मींह-मींह, कभी बड़ी-बड़ी, कभी गोल-गोल आंखों उसकी ओर देखे जाता था. सफाचट चेहरे पर हाथ फेरते अपना परिचय खुद देते हुए उसने सवाल-सा किया—''मेम, मैं एडिशनल एस.पी. ओमपाल. आप यहां कैसे?''

''मैं मिलनदेवी. जन-मन समिति की सचिव. पूर्व विधायक भंवरदास की पुत्र वधू.'' उसने रमतीबाई के कंधे पर अपना बायां हाथ रखा—''लखीनाथ सपेरे की पत्नी रमतीबाई है.'' दायां हाथ मदारिन के कंधे पर रखते उसने बताया—''मदारी की मिसेज है. इन दोनों के मर्द लॉकअप में बंद कर दिए हैं थानेदार ने.''

मुंह पर मारे थप्पड़ की तरह के इस सीधे आरोप से पूरा कक्ष स्तब्ध और सन्न रह गया. एकदम चौकन्ना. ओटते दूध खट्टा के छींटे. सधाए जाल को काटने की काट. थानेदार. गलफांस. मदारिन की ओर देखकर तो उसका जीव चोला छोड़ता हुआ. उसकी हताशाभरी नजरें छत की ओर गईं. मकड़ा और जकड़ा जाता था.

मनोविज्ञान पढ़ी मिलन ने सम्मुख बैठी तीन भंगिमाएं देखीं. तीनों की रेखाएं सिरे मिलती नजर आईं, त्रिकोण-सी. अंतस झांका. वक्त आंका. अकल दौड़ाई. चोर-चोर मौसेरे भाई.

उसने अपने पर्स से डायरी निकाल ली और उसे टेबल पर रखकर पन्ने पलटने लगी. एक पन्ने पर उसकी आंखें ठहर गईं और हाथ टेबल पर रखे फोन के रिसीवर की ओर बढ़ गया था.

एडिशनल ने तल्ख कंठ उसे टोका—''मेम प्लीज, फोन किसे कर रही हैं, आप?''

''एस.पी.को.''

''एस.पी.को?'' हमें बताएं काम क्या है?'' उसके दिल को धक्का लगा.

''काम उन्हीं से है.'' मिलन ने टका-सा प्रत्युत्तर दिया और रिसीवर कान से लगाकर क्रेडिल के बटनों को अंगुली से दबाने लगी थी. निर्भय.

फोन एस.पी. के पी.ए. ने उठाया. नाम, पद, काम पूछा और एस.पी. के फोन पर डाइवर्ट कर दिया था.

''हेलो, कौन?''

''हेलो.''

''हुं.''

''मैं मिलनदेवी बोल रही हूं, मेम. जन-मन समिति की सचिव. दिवंगत एम. एल.ए. भंवरदास जी की पुत्रवधू.''

''मिलन कहिए. मैंने कई बार अखबारों में नाम पढ़ा है, आपका.''

''आप एस.पी. बोल रही हैं न?''

''हां-हां, एस.पी. बोल रही हूं, धर्मकंवर.

बताएं?''

''मेम थाना सदर में बड़ा कांड हो गया है. हृदयविदारक. एकदम घिनौना. अत्याचार. अनर्थ.

''हे! थाना सदर में बड़ा कांड?'' व्हाट आर-यू सेइंग मिलन?'' एस.पी. का गला दब-सा गया.

''हां मेम.'' एस.एच.ओ. थाने के बाहर पेड़ के नीचे बैठे दो ट्राइब्स को थाने में अगुआ कर ले आया. उसने एक ट्राइब्स को गोली मार दी, पैर में. दोनों को लॉक-अप में बंद कर दिया है.''

''रीजन.'' एस.पी. का कंठ तिक्त हुआ.

''मेम, आप आएं.'' मिलन का स्वर क्षुब्ध था.

इधर-उधर घूमते-हांडते घुमंतुओं, घुमक्कड़ों-खानाबदोशों को लाकर थाने में बंद कर देना, मुंह पर हाथ फेरने जैसी आम बात है, पुलिस के लिए. थाने में किसी को गोली मार देना, कठघरे में होना है. मामला गम्भीर और काबिलेगौर है. एस.पी. विचलित हो उठीं. उन्होंने गला सहलाते हुए पूछा–''मिलन, एस.एच.ओ. मौजूद है, वहां?''

''जी मेम.'' एडिशनल एस.पी., डिप्टी एस.पी. और एस.एच.ओ. तीनों विराजे हैं. मेम, आप आएं.''

''मिलन, एडिशनल को फोन दो.'' उनकी आवाज में घबराहट और गुस्सा था.

मिलन ने एडिशनल की ओर फोन बढ़ाया–''सर, एस.पी. बात करेंगी आपसे.''

एडिशनल का हृदय हिला और हाथ कांप गए. रिसीवर कान से लगाकर घबराते हुए कहा–''हैलो. प्रणाम मेम. हुकुम फरमाएं.''

''अरे ओमपाल थाने में गोली चलने जैसा वीभत्स कांड हो गया और तुमने सूचना तक नहीं दी मुझे?'' एस.पी. का स्वर सख्त हुआ.

उसने धीरे-सी जवाब दिया–''मेम, मैं खबर मिलते आकर ही बैठा हूं. केस की पूरी जानकारी लेकर फोन करता, आपको.''

''पूरे स्टॉफ को अलर्ट कर दो. तुम भी वहीं रहो. मैं पंद्रह मिनट में पहुंच रही हूं. ओ.के.''

एडिशनल ने चोंगा क्रेडिल पर रख दिया था. उसके रोष भरे नेत्र कभी मिलन की ओर जाते, कभी रमती की ओर ठहर जाते, कभी मदारिन की ओर ठिठक-ढरक जाते. कभी थानेदार को उसके कुकृत्य के लिए दुरदुराते. थानेदार की नजरें जमीन में पैबस्त थीं. चेहरे पर चिंता की बरक थी.

वक़्त बीता. पुलिस अधीक्षक धर्मकंवर थाने आ धमकीं. टाइगर के जंगल में दस्तक देते जंगल सून हो जाता है. टाइगर (पुलिस अधीक्षक) के पहुंचते ही समूचे थाना परिसर में सन्नाटा पसर गया था. पद के प्रोटोकाल का सन्नाटा. जिला पुलिस अधीक्षक की दशहत का सन्नाटा. कान-कायदा अनुशासन का सन्नाटा. दो शातिर लुटेरों को पुलिस हिरासत से रिहा कर थाने की जीप से छुड़वाने का सन्नाटा. झूठे केस दो बेकसूर खानाबदोशों को उनके एवज हवालात में बंद कर देने का सन्नाटा. पुलिस स्टेशन पर थानेदार के द्वारा घुमंतू के पैर में गोली मार देने का सन्नाटा. सन्नाटों से भयावह सन्नाटा, थानेदार के अंदर सनसनाता सन्नाटा था.

''बहन जी, मैं थाणा की दीवार के साथ चिपकी खड़ी थी, आज. सपेरा अर मदारी ने पिटतो देखती रही, रोती रही. इने सपेरा के गोली मार दी पग में. दोनों जेल में बंद कर दिया. खूब रोई, मैं.'' गुस्साई मदारिन ने थानेदार की ओर हाथ फेंका–''अकी आंख मेरे पे पड़ गई. डंडो उठाके मेरे पीछे भागतो बोल्यो–'हरामजादी भाग जा, उस दिन तो बच गई थी, आज तेरो घाघरो उठा दूंगो.'

तीनों अफसर एस.पी. की अगुवाई में गेट पर जाकर खड़े हो गए थे. पूरा स्टॉफ अलर्ट हो गया था, सीमा पर तैनात सैनिक-सा.

एस.पी. लंबा कद. बॉबकट केश. सिर पर कैप. अधेड़ होती वय. गठीली काठी. नुकीली नाक. पतीली आंखें. पुलिस वर्दी फबती थी. हाथ में थमा डंडा चौंधता था. उनकी आंखें क्रोध भरी थीं और चेहरे पर उबाल था.

उन्होंने तीनों अफसरों के साथ थाने का निरीक्षण किया. बंदीगृह देखा. घायल घुमंतू पर दया आ गई. उसे तुरंत मरहम-पट्टी कर देने का हुक्म दिया.

वे थाने के अहाते को निरीक्षण की निगाह से निहारती बढ़ते कदमों थानाधिकारी के कक्ष में प्रवेश कर गई थीं. उनको देखते ही मिलन, रमती और मदारिन खड़ी हो गई. रमती और मदारिन ने हाथ जोड़कर राम-राम कही. मिलन ने नमस्कार अर्ज किया.

थानेदार दीवार के साथ खड़ा हो गया और एस.पी. के सामने बुरी तरह धूजने लगा था, जैसे चोर सिपाही के डंडे के सम्मुख कांपता है.

एस.पी. उसके नजदीक गईं और डंडे की टो उसके टेटुआ पर टिका दी. गुस्साई आंखों उसकी ओर टकटकाया–''बताएं?''

थानेदार की सूरत उतरी थी. पशोपेश में था. सच कहे मरा. झूठ कहे मरा. मरना सच है. अपराधबोध इतना हावी हुआ बोलते-बोलते नहीं बोल पाया, वह. होंठ बुदबुदाएं, शब्द कंठ घुट गए.

राज्य पुलिस सेवा से भारतीय पुलिस सेवा में प्रमोट हुई एस.पी. पुलिस महकमे की रग-रग पगी थीं. उन्होंने एस.एच.ओ. के भीतर का पाप चाप लिया. डंडा झाल उसे बाहर ले गई. दीवार के साथ खड़ा कर लिया. उसकी आंखों में अपनी आंखें ऐसी फंसाई सच खींच लाए, जैसे कुएं की तली में पड़ी चीज को कांटा खींच लाता है. उसके टेटुआ पर रखी डंडे की टो धंसती गई.

दूसरों में भय भर देने वाला थानेदार इतना भयभीत चेहरा सफेद हो गया और आंखें नीली पड़ गई थीं. मार मारे चोर उगल देता है. डंडे की धंस, थानेदार ने झूठ-सच सब एस.पी. को बता दी थीं.

सख्त सवालिया निगाह एस.पी. ने उसे लताड़ा–''अरे नीच, राक्षस के भी किसी कोने दयाभाव होता है. तुम तो उससे भी गए बीते निकले. अरे निकम्मे, स्थानीय

एम.एल.ए. बड़ा कि पुलिस डिपार्टमेंट? भद्द पिटवा दी. हमसे बात करते. हम आई.जी. से निवेदन करते. आई.जी., डी.जी.पी., के नॉलेज में लाते. एम.एल.ए. के दबाव लुटेरे छोड़ दिए और उनके एवज दो घुमंतू फांस दिए? उन बेचारों के घर में तो चूल्हा सोया रहता है. किसी की तन्हा जिंदगी होने का यह सिला? पुलिस अफसर को नेकदिली चाहिए या षड्यंत्र.'' क्रोधभरी एस.पी. फिर कुर्सी पर आ बैठीं. थानेदार वहीं आ खड़ा हुआ था, पूर्ववत. दीवार से सटकर. हाथ जोड़कर. एस.पी. के खौफ थरथराता.

एस.पी. ने एडिशनल की ओर निर्देश करती नजरों से देखा—''जिन तीन कांस्टेबलों ने घुमंतू की लाठियां खाईं और चोटें आईं, बैल्ट नंबर और नाम नोट कर लो उनके. चार्जशीट थमाकर लाइनहाजिर करो कायरों को. जिस सिपाही के हाथ से लाठी छूटी उसके सस्पेंशन आर्डर तैयार कर लो. टुकड़खोर, चूनचुटे कहीं के. अकेले खानाबदोश ने थाने के भीतर सिपाहियों के दांत खट्टे कर दिए. औकात बता दी.''

उन्होंने थानेदार की ओर आंखें बताईं—''हरामखोर कहीं का. खुद जबड़ा तुड़ा बैठा और दांत जेब में रखकर शिकायत करता है, आत्मरक्षा में गोली चलाई. स्साले का पुरुष.''

वह उठी. मुट्ठी बांधकर उसकी छाती में ठूसा दिया और गुर्राई—''जिन दो लुटेरों को तुमने लॉकअप से रिहा किया है न, उनको पकड़कर लाओ, मैं यहीं बैठी हूं.''

''जी...'' उसका गला रुंध गया. जी जैसे अब निकला. कांपनी बेतहाशा छूटने लगी.

एस.पी. ने फिर आंखें तरेरीं—''और सुनो. आकाश में चढ़ गए हों, उतार लाओ. जमीन में धंस गए हों, खींच लाओ. आकाश-पाताल एक कर दो. तुम्हारी जिंदगी और मौत का सवाल है यह. उस गुंडे एम.एल.ए. के दबाव-प्रभाव की चिंता मत करो, वह तो खुद धरा जाएगा, नाबालिग से ज्यादती की धाराओं के तहत.''

उन्होंने एडिशनल एस.पी. को आदेश दिया—''तुम भी इस बेवकूफ के साथ जाओ. दोनों मुल्जिम एम.एल.ए. के रिश्तेदार बताए, पुलिस जाब्ता साथ ले जाओ. उस ए.एस.आई. को जरूर साथ रखना, जीप में बैठाकर लुटेरों को छोड़कर आया.''

उन्होंने होंठों पर अंगुली रखी, 'पुलिस की इससे बड़ी दहशतगर्दी क्या हो सकती है? जुल्म क्या हो सकता है? यातना क्या हो सकती है? गरीब के लिए तो अन्याय का नाम हुआ, पुलिस?

वह फिर कुर्सी पर आ बैठी थीं, गुस्साभरी.

रमती समझते समझी. उसने दोनों कान छूकर कानिपानाथ को याद किया, 'बचा लो नाथ जी. गरीब को जीणो मरणो है.' भोली-भाली मदारिन को चिंता सताए थी, आदमी जेल से छूटे.

पुलिस की गाड़ी घर्र-घर्र करती थाने के गेट से बाहर निकल गई थी.

बाहर से आ रही आवाजें तेज हुई जाती थीं. इतनी उग्र आंदोलन का रुख अख्तियार किए हों.

एस.पी. ने टेबल के बाईं बगल बैठे डिप्टी एस.पी. की ओर आदेश करती निगाह की—''अरे कर्मलाल थाने के बाहर शोर बढ़ता जाता है. जानवरों की डरावनी आवाजें आती हैं. बंदर, भालुओं के साथ-साथ बाज जैसे पक्षी का कर्कश भी है.''

डिप्टी ने डंडा उठाया और तुरंत उठकर चल दिया—''मेम, देखकर आता हूं, मैं.''

मिलन प्रफुल्ल थी, घुमंतू अपने जीव-जंतुओं के साथ आ पहुंचे हैं. रमतीबाई और मदारिन खुश हुईं, म्हारा डेरा का लोग अपना जीव-जिनावरां के साथ आ गया.''

डिप्टी बड़े-बड़े डग भरता चढ़ी सांस लौट आया. उफनी रोककर उसने एस.पी. को बताया—''मेम, घुमंतू अपने जानवरों के साथ आ जुटे हैं, थाने के बाहर. मैंने समझाइश की. वे भड़क उठे. उनकी मुट्ठियां आकाश की ओर बंध गईं. गला फाड़ चिल्लाए. जानवर भयानक आवाज़ें निकालने लगे. एक ही रट्ट थी, लखीनाथ सपेरे और भलीराम मदारी को लाओ.''

''आवाजें और तेज हो गई थीं.''

एस.पी. उठ खड़ी हुईं—''मैं चलती हूं. समझाएंगे उनको.'' उन्होंने मिलनदेवी की ओर देखा—''दोनों महिलाओं को साथ लाएं, आप.''

थाने के गेट पर आ खड़ी हुई एस.पी. इंसानों और जानवरों के हुजूम का ऐसा आक्रोश भरा जुनून पहली दफा देख रही थीं. वीरान जिंदगियों की दुश्वारियां. बेगानी सांसों की धड़कने. गरीबी का झीना-बाना. कपड़े लत्तों से तंगदस्त. प्यासी-तिसायी, भूखी-सताई दुनिया से न्यारी दुनिया. नट, मदारी, कलंदर, बाजीगर, बहुरूपिया, सपेरे-कालबेलिया, नंदी, रीछ, भालू, बंदर-बंदरिया, कबूतर, बाज, गधे. खूली टोकरियों में सांप, कोबरा, अजगर, पाटनगोह. एक-एक में ऐंठ भरी थी.

जिले के पुलिस जाब्ता को अपनी मुट्ठी में रखने वाली एस.पी. इंसान और जानवरों की इस साझा दुनिया से डर गईं. मिलन को कतई अटपटा नहीं लगा. वह इस दुनिया से रू-ब-रू हुई जाती थी.

बहुरूपिया थानेदार के भेस में था. वह उनके आगे आ अड़ा था. अपनी हथेली पर डंडा मारता एस.पी. से मुखातिब हुआ—''मेडम, बेकसूर खानाबदोशों को थाने में बंद कर दिया. लुटेरों को छोड़ दिया? गोल-माल है. सबकी एक चाल है.''

एस.पी. गुस्सा भर गई थीं. मिलन की ओर देखा—''कौन बदतमीज शख्स है, यह?''

मिलन ने उनको बताया—''मेम, घबराए नहीं, बहुरूपिया है.''

''अरे वाह!''

बूढ़े-बूढ़ियों, किशोर-किशोरियों, जवान-अधेड़, मरद-औरतें सभी के तन-बदन पर मैले-कुचैले, फटे-उधड़े कपड़े थे. अंदर ज्वाला थी, सुतली में लिपटी बारूद-सी. पुलिस की बड़ी अफसर आई हैं, एक-एक मुट्ठी आकाश की ओर भंज गई. एक बालिका बैसाखी बगल में दबाए खड़ी थी और अपनी बंद मुट्ठी उठाए थी. महिलाएं अपनी बोली-भाषा

में चिल्ला रही थीं. युवाओं की मुट्ठियों में ज्यादा खिंचाव था और कंठ ऊंचे थे.

एक ओर बीन का आक्रोशित लहरा उठा, 'हम नाग है. नाग को बिरचाओगे. जान से जाओगे. सामने आओगे. प्राण गंवाओगे.'

ढपली की ढप ढपाढप. ढप ढपाढप हुई, 'अन्याय मत करो.'

एक दंपति नांदिया (नंदी बैल) लिए खड़ा था. नांदिया अपने मालिक के संकेत ऊपर की ओर मुंह किए रंभाया, 'नियाव करो.'

गधा रेंक उठा था, 'खबरदार.'

बंदर हुआ-हुआ किए जाते थे, 'धोखा नहीं चलेगा.'

रीछ-भालुओं की झूम बढ़ गई थी, 'बिल्कुल नहीं चलेगा.'

एक मदारी के कंधे पर बैठे कबूतर ने उड़ारी ली और एस.पी. के सिर के ऊपर से गुजरा, 'छोड़ दो बेकसूरों को.' वह फिर वहीं आ बैठा था.

दो सपेरों के गले लिपटे नाग दोहरी जीभ लपलपाए जाते थे. एक सपेरे ने अपने दाएं हाथ पर सटक लिपटा रखी थी और एक पैर ऊपर उठाए खड़ा था, शिवजी-सा. डरी-डरी, सहमी-सहमी एस.पी. समझाइश के बहाने थोड़ी आगे बढ़ीं.

खंडवा (मुंडासा) बांधे खड़े मदारी के सिर पर बाज बैठा था. उसने अपने मुड़े पंजे बढ़ाए, पंख फड़फड़ाए और एस.पी. के कंधे पर जा बैठा था, 'मान जाओ साहिबा.'

बाज का पंजा तीर की अनी-सा लगा, उन्हें. हाथ का डंडा छूट गया. पीछे हटती चिल्लाई, 'हाय मां.'

मदारी बाज के पंजे से बंधी डोर झट खींच नहीं लेता, एस.पी. बेहोश हो गई होतीं. फड़फड़ाते बाज के पर की एक पाख

एस.पी. की टोपी पर झूल गई थी. मिलन ने चुटक कर उसे नीचे पटका.

उन्होंने मिलन के कंधे का सहारा लिया. मिलन ने दिलासा दिया—''मेम यह बाज भले हो, पालतू है. झपट-नोच नहीं करता.'' मिलन थोड़ी आगे बढ़ी और बाज को पुचकार दिया था.

एस.पी. की हालत देख मदारी ने हैरानगी से कहा—''बहन जी घबराओ मत, म्हारो बाज आळा चाळा ने झपटे. पंजावै (पंजा मारना). सरीफ ने कुछ कहवै. लखीनाथ सपेरा और भलीराम मदारी ने चाहवै. जेल से छोड़ दो उनने.''

एक बंदरिया बंदर की पीठ पर खड़ी थी और लट्ठ घुमाए जाती थी. एस.पी. बिना पलक झपकाए देखती रहीं—देखती रहीं. 'जानवर तक लट्ठ उठाए हैं.'

मिलन की आंखों में सपना दिपने लगा, अगर यह लोग अपनी एकता का ऐसा ही प्रदर्शन करें, डेरा-डेरा पक्की छत में तब्दील हो जाए और मैं गंगा नहा जाऊं.

रमतीबाई और मदारिन को डेरों का एका बड़ा मन भाया.

चतुर सुजान एस.पी. वक़्त को कात रही थी. समय ऊंट की 'बैठ' होता है. किस करवट बैठे. वह उन दोनों बदमाशों को लॉकअप में बंद करने के बाद खानाबदोशों को छोड़ना चाहती थी. इंसानों और जानवरों की इस अप्रत्याशित एकजुटता के सामने उनकी कूटनीति ने घुटने टेक दिए. बेगुनाहों को छोड़ना गुनाह हुआ? उन्होंने दांत से दांत पीसते स्वगत कहा, 'लुटेरे मिले ना मिले, थानेदार की मर. बेचारे क्यों मारे.'

उन्होंने डी.वाई.एस.पी. को अपने निकट बुलाकर कहा—''उन दोनों खानाबदोशों को हवालात से रिहा कर यहां ले आओ, तुरंत.''

लखीनाथ सपेरा की पिंडली पर पट्टी बंधी थी. चोटें थीं. भलीराम को चोटें थीं. चोट-चोट नील थी. अपने दोनों डेरावासी भायलों (साथियों) को बीच पाकर घुमंतुओं का उबाल थम गया था. बेमतलब मारा-पीटा, गोली मारी. हवालात में बंद किया. आक्रोश बराबर था.

एस.पी. फिर कुर्सी पर आ बैठी थीं. मिलन एक कुर्सी सरकी और लखीनाथ को रमती की बगल कुर्सी पर बैठा लिया. खूब हाड़े खाए, मदारी कुर्सी पर बैठने की हिम्मत नहीं जुटा पाया. ऊबा (खड़ा) रहा.

फोन की घंटी घनघना उठी. एस.पी. ने रिसीवर उठाकर कान से लगाया—''हेलो कौन?''

''मेम मैं बोल रहा हूं, एडिशनल एस.पी. ओमपाल.''

''ओमपाल कहें. मुल्जिम पकड़े गए?''

''जी मेम, दोनों बदमाश वहीं जश्न

मनाते मिल गए, जहां छुड़वाया था, उनको. हथकड़ी लगाकर जीप में बैठाया है.''

''वैरी गुड. ओ.के...'' एस.पी. ने संतोष भरी सांस छोड़ी और फोन रख दिया था. वह निराशा से उबरीं, जीव निथर गया हो, जैसे.

पुलिस की गाड़ी पोर्च में आ खड़ी हुई. पुलिस जाब्ता बाहर रह गया. एडिशनल एस.पी. अंदर आ गया. वह शतरंज के बादशाह की भांति उल्लसित था. दोनों बदमाशों के हाथों हथकड़ी होने के बावजूद थानेदार का चेहरा मौत जैसे स्यापा-सा मुर्दनी था.

एस.पी. ने दोनों मुल्जिमों की ओर निगाह भर देखा और थानेदार को जोरदार हड़क दी—''मेरे सिर पर बैठाओगे लुटेरों को, जाओ लॉकअप में बंद कर दो इनको.''

''जी मेम.'' थानेदार दोनों लुटेरों को लेकर बंदीगृह की ओर बढ़ गया था.

थानेदार फिर वहीं आ खड़ा हुआ था, उसी पॉजिशन में. उसकी आंखें छत के कोने में जा ठिठकीं. मकड़ा कहीं ओर जकड़ता गया था.

सहसा फोन की घंटी फिर बज उठी थी. एस.पी. ने चोंगा उठाकर कान से लगाया—''हेलो, मैं एस.पी. धर्मकंवर.''

उधर से मरी-सी आवाज आई—''मेम मैं एम.एल.ए. निवेदन कर रहा हूं, भंवरदत.''

''कहिएगा एम.एल.ए. साहब.''

''मेम हमारे दो बेकसूर आदमियों को रिहा करने के बाद फिर गिरफ्तार कर लिया है पुलिस ने. ज्यादती हुई यह.''

''हूं.''

''मेम दोनों पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता हैं, आपकी मेहरबानी होगी छोड़ दें, उन्हें. विधायक की अर्ज कबूल लें, मेम. उनके एवजी हवालात में बंद हैं.''

''एम.एल.ए. साहब दोनों शातिर लुटेरे हैं. लूट का माल बरामद हुआ है. दोनों को लॉकअप में बंद कर दिया है. कोर्ट फैसला करेगी.'' एस.पी. ने गुस्साकर चोंगा रख दिया था.

पुलिस अधीक्षक ने महानिरीक्षक रेंज को फोन लगाया और पुलिस अंदाज में समूचे घटनाक्रम से उन्हें अवगत करा दिया. एम.एल.ए. के दांत और हाथ दोनों लंबे हैं. एकबारगी वे झेंपे, झिझके, हिचक गए और हाथ पीछे खींच लिए. केस की डेप्थ और एस.पी. की दृढ़ता के सामने वे सहज हो गए थे.

एस.पी. इस टिपिकल प्रकरण को लेकर फिक्रजदा थीं. आई.जी. की 'यश' होने पर उनका चेहरा खिल उठा था.

एस.पी. ने थानेदार की ओर कठोर निगाह घूरा—''अरे, वह बुलेट कहां हैं, जो सपेरे के पैर में लगी. वह कैप कहां है, जो बुलेट से नीचे गिरी?''

थानेदार की सिट्टी-पिट्टी गुम. धूजनी छूटी, घिग्घी बंध गई. वह बेतहाशा कांपने लगा, ताप चढ़े गजराज हिलता है.

थानेदार ने जेब से बुलेट और कैप निकाले और एस.पी. को पकड़ाकर फिर वहीं खड़ा हो गया था, जहां पहले खड़ा था. उसी हाल. हाथ जोड़े. गर्दन झुकाए. भय बिलबिलाए.

वह एस.पी. की मंशा भांप गया था. सबूत जुट रहे हैं उसके खिलाफ. ताबूत. दफन.

एस.पी. ने डिक्टेट कराने की दृष्टि से एडिशनल की ओर देखा—''मैं बोलती जाती हूं, तुम नोट करते जाओ.''

एडिशनल ने स्लिप पैड और पेन खोलकर कहा—''जी मेम, हुक्म.''

''थानाधिकारी सदर धारसिंह ने मय लूट का माल पकड़े गए लुटेरों को लॉकअप में बंद कर दिया था. स्थानीय विधायक जो रसूखदार हैं, के दवाब-प्रभाव में आकर उन लुटेरों को न केवल रिहा किया, बल्कि पुलिस की गाड़ी से गंतव्य तक छुड़वाया.''

''जी मेम.''

''थाने के बाहर पेड़ के नीचे सुस्ताते दो बेगुनाह खानाबदोशों को अगवा कर लाए. थाने में लाकर उनको खूब पीटा और लखीनाथ नामक सपेरे के दाएं पैर में गोली मारकर उसे बुरी तरह घायल कर दिया.''

''जी मेम.''

''इसे कातिलाना हमला ट्रीट करते धारा (दफा) 301, दफा 302 आदि लगाना.''

''जी मेम.''

''गोली मारकर घायल करने के बाद सपेरे को अस्पताल ले जाना तो दूर, एस.एच.ओ. ने उसकी मरहम पट्टी तक नहीं कराई और हवालात में बंद कर उसी हाल छोड़ दिया. उसके मदारी साथी जिसका नाम.'' उन्होंने मदारी की ओर देखा—''बताओ.''

मदारी बोले, लखीनाथ बोल पड़ा था—''भलीराम मदारी, बहन जी.''

''हां, नाम नोट कर लो भलीराम मदारी.''

''जी मेम.''

''लुटेरों से जो माल बरामद हुआ, उसे सपेरे की टोकरी से बरामद दिखा दिया बतौर सबूत. एस.एच.ओ. की यह कारगुजारी चार सौ बीसी है.''

थानेदार का चेहरा स्याह पड़ता गया. जीव जकड़ता गया, जाल में फंसे मकड़े-सा.

एस.पी. ने एडिशनल से कहा—''आप खुद जाओ और हेड मोहर्रिर के पास बैठकर टाइप करवाओ और डी.एफ.ए. (प्रारूप अनुमोदनार्थ) मेरे पास ले आओ.''

एडिशनल एस.पी. स्लिप पैड और पेन हाथ में लिए कक्ष से निकल गया था.

चुपचाप बैठी मदारिन की टीस चबक उठी. उसने घिग्घी बंधे खड़े थानेदार की ओर थुथकारती निगाह देखा, 'इके सामे जितनो म्हारो आदमी और लखीनाथ गिड़गिड़ाया, डरा, उससे घणो तो यो बीरबानी अफसर से डरे. माजनो उतारन को मौको है.'

उसने अपने धड़कते भीतरले को थामा और उठ खड़ी हुई. सबकी आंखें उसकी ओर खिंच गई थीं, 'क्या कहेगी मदारिन?'

मदारिन ने थानेदार की ओर अंगुली सीधी कर दी और गर्मी में बहते झरने की पतली धार जैसे स्वर में बोली—''बहन जी, यो थानेदार दो साल पहल्या दारू में धुत्त हुयो रात के टेम म्हारा डेरा में घुस आयो अर गन्दो काम करन की गरज मेरे लिपट गयो.

म्हारो आदमी बाहर गयो थो. कुत्तो ना छुड़ातो, डेरा में रातबासो करतो, अर म्हारी लाज ले लेतो.'' उसके ओठ सुबक पड़े. आंखों की गीली पानियां हथेली से पोंछती रही.

भलीराम, लखीनाथ और रमतीबाई थानेदार की ओर खा जाने जैसी आंखों देखते रहे. भलीराम ने पत्नी की ओर ताज्जुब से देखा, 'आज तक ना बताई.' मिलन को घिन हुई. एस.पी. का कलेजा चिर-सा गया. पुलिस अफसर, घिनौनी करतूत!

मदारिन की सुबकियां धीरे-धीरे थमीं. आंसुओं सना मुंह पल्लू से पोंछकर वह फिर कहने लगी—''बहन जी, मैं थाणा की दीवार के साथ चिपकी खड़ी थी, आज. सपेरा अर मदारी ने पिटतो देखती रही, रोती रही. इने सपेरा के गोली मार दी पग में. दोनों जेल में बंद कर दिया. खूब रोई, मैं.'' गुस्साई मदारिन ने थानेदार की ओर हाथ फेंका—''अकी आंख मेरे पे पड़ गई. डंडो उठाके मेरे पीछे भागतो बोल्यो—'हरामजादी भाग जा, उस दिन तो बच गई थी, आज तेरो घाघरो उठा दूंगो.'

एस.पी. की काया में आग-सी लग गई. शर्मिंदा हुई जमीन में तो नहीं धंस पाई, चेहरा हथेलियों से ढांप लिया, अपना.

उन्होंने थानेदार की ओर बिरची बाघिन जैसी खूंखार आंखों देखा. अभी का अभी फाड़कर बोटी-बोटी, दुष्कर्मी की. वह उठी और एक झनझनाता झापट उसके मुंह पर जड़ा—''स्साले लस्टर.''

खेत में खड़ा बिजूका हवा में हिलता है. थानेदार बुरी तरह थरथराने लगा था. मुंह, पिटा हो, लितर-लितर. शरीर निर्जीव. सांस छूटी.

अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक ओमपाल, थानाधिकारी सदर धारसिंह पर लगाई गई आई.पी.सी. धाराओं और आदेश का प्रारूप तैयार कर फाइल ले आया था. उसने फाइल पुलिस अधीक्षक धर्मकंवर के सामने टेबल पर रख दी और कुर्सी पर बैठ गया.

एस.पी. ने पूरा ड्राफ्ट अक्षरशः पढ़ा. धाराएं गौर से देखीं. शाबाशी दी—''वैरी गुड ओमपाल. वैरी गुड.''

''थैंक्स मेम.''

''अब एक काम और करें.'' एस.पी. धर्मकंवर ने एडिशनल से कहा.

''जी मेम.''

उन्होंने मदारिन की ओर अंगुली से इशारा किया—''क्या नाम है तुम्हारा?''

''सरकीबाई.'' मदारिन ने बताया.

''हम सब चश्मदीद गवाह है. सरकीबाई मदारिन ने हम सबके सामने थानेदार की बदसलूकी की शिकायत की है. रात डेरे पर जाकर थानेदार ने मदारिन पर यौन हमला किया. आज भी थाने में अश्लील गालियां बकीं और दुत्कार कर भगा दिया.''

''जी.''

''मदारिन की एफ.आई.आर. दर्ज कर धारा 376 (2) लगा दो. पुलिस अफसर. और ऐसा दुश्चरित्र! महकमा भरोसा करे. फरेब, चार सौ बीसी, अपने कर्तव्य के प्रति लापरवाही, पद का दुरुपयोग जैसी धाराओं में तो अलग-अलग सजाएं होंगी ही इसे, मदारिन के केस में दस साल सजा काटेगा.''

''हुकुम मेम.''

एस.पी. ने एडिशनल और डिप्टी की ओर देखा तथा थानेदार की ओर डंडे की टो करके तमतमा उठी—''ले जाओ इसे और उन दोनों मुल्जिमों के साथ हवालात में बंद कर दो.''

दरोगा ने मकड़ी के जाले की ओर निरीह आंखों देखा. अपने ही जाल में जकड़ा मकड़ा पस्त हुआ जाता था.

बंदीगृह की ओर जाता थानेदार, जिबहगाह की ओर बढ़ता बकरा.

थानेदार को बंदीगृह में बंद कराकर एडिशनल और डिप्टी आ खड़े हुए थे. वे कुर्सियों पर बैठने को हुए, एस.पी. उठ खड़ी हुईं थी.

उन्होंने खड़े-खड़े ही निर्देश दिए—''दोनों बेगुनाह खानाबदोशों के हल्फिया बयान ले लेना. लखीनाथ सपेरा के पैर की पट्टी खुलवाकर गोली लगने की जगह की फोटो खिंचवाना. मेडिकल रिपोर्ट के वक़्त काम आएगी. उसकी दोनों टोकरियां वापस करा देना. डेरों के लिए जाब्ता नियुक्त करा देना. थाने के बाहर आंदोलनरत खानाबदोशों को इत्तिला कर दो, उनके आदमियों को रिहा कर दिया है. डेरे जाएं.''

''जी मेम.'' एडिशनल और डिप्टी दोनों के कंठ एक साथ खुले. पैर की धमक सेल्यूट किया.

एस.पी. ने लखीनाथ की ओर देखा. बिना आंख हटाए तकती रहीं. हिरण-सा उछाह भरा बदन. खरगोश-सा मुलायम चेहरा. कपोत-सी निरीह आंखें. मुर्गे की कलगी से ललवई कपोल. आभता गेहुंआ रंग और अरड़ाती जवानी. वह दुःख और अफसोस से लबरेज थीं, 'जंगल का यह फूल जेल में ही मुरझा कर मिट जाता.'

उन्होंने लखीनाथ से पूछा—''लखीनाथ कितने पढ़े-लिखे हो, तुम?''

लखीनाथ ने हथेली फैलाकर उस पर अंगूठा टेक दिया था.

एस.पी. ने उसे हड़क दी—''मूर्ख लखीनाथ, अगर आठ जमात पढ़ा होता, पुलिस में भर्ती करा देती, तुझे.''

चवालीस साल की अविवाहित एस.पी. के नेत्रों में लखीनाथ के शौर्य की दीवानगी दिप गई थी.

कंपनी कमांडर अपने जवान की अद्वितीय बहादुरी पर उसकी पीठ थपथपाने के बाद गाल पर स्नेहिल चिकोटी काट दाद देती मरोड़ी मार देता है. एस.पी. ने पहले तो लखीनाथ की पीठ दो-तीन बार थपथपाई और फिर उसके गाल पर दुलार-भरी चिकोटी काटकर हंसी—''शाबाश जवान.''

उन्होंने चलते वक्त मिलन के कंधे पर हाथ धरा—''मिलन, लखीनाथ को अस्पताल में भर्ती कराकर कॉटेज अलॉट करा लेना. फोन करना. ओ.के.''

एस.पी. बढ़ते कदमों कमरे से बाहर निकल गई थीं.

❒

पाठकों और शोधार्थियों की भारी मांग पर

का

सत्ता-विमर्श और दलित

(अगस्त 2004 अंक)

शीघ्र ही पुस्तकाकार रूप में उपलब्ध

कविताएं

जन्म : 25 फरवरी 1972 इलाहाबाद (उ.प्र.)
कृतियां : हिंदी की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं एवं ब्लॉग में कविताएं, और संस्मरण प्रकाशित.
संपर्क : श्रीमंत, प्लॉट नं.-51, स्वामी विवेकानंद नगर, फल्टन, जिला-सातारा-415523 (महाराष्ट्र)
मो. : 9560180202
ईमेल : ruchibhalla72@gmail.com

रुचि भल्ला की कविताएं

सबकी कहानी अपनी जुबानी

मकर संक्रांति के चांद
तुम्हें देखती हूं
सितारों की चिलमन के पार खड़ी हुई

तुम्हारा चेहरा शीला के चेहरे से मिलता है

तुम मुझसे शीला के बारे में मत पूछना
जैसे शीला तुम्हारे बारे में मुझसे नहीं पूछती

सिवाय इस बात के कि तुम चांद हो
इतना जानती हूं

वह भी तब जब मेरे शहर ने बताया था
हाथ थाम कर कि तुम्हारा नाम चांद है
मैंने मान लिया था
जैसे अपने शहर के नाम को मान लिया था
तुम्हारी अंगुली के इशारे से समझ कर

मैं अपने शहर को उसकी पीठ से भी पहचान लेती हूं

अमावस की रात में जब चांद का दीपक नहीं जलता
छिप जाता है पत्थर गिरजे की पीठ के पीछे जाकर
मैं देख लेती हूं चमक
पुकार उठती हूं चांद

चांद को चांद कह कर ही पुकारती हूं हर हाल में

देखती हूं जब पठार की जमीन पर खड़े
नीम के दरख्त पर चढ़ती गिलहरी को
उसे गिल्लू ही पुकारती हूं
आने लगती है चल कर महादेवी वर्मा की याद

दुनिया की किसी भी सड़क से गुजरती हूं
देखती हूं पत्थर तोड़ती कोई स्त्री
याद आती है निराला की कविता–
'वह तोड़ती पत्थर
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर'

किसी सर्द रात में
जब खांसता है इलाहाबाद
मेरी आह फलटन में निकल जाती है
बढ़ा देती हूं हाथ
लगा देती हूं चांद का दिठौना
इलाहाबाद के ललाट पर

इलाहाबाद का दूसरा क्या नाम है
क्या तुम मुझे बता सकोगे चांद
तुम तो रोज जाकर टहलते हो
उसके आसमान पर
मैं देखती हूं तुम्हारे पांव के सदियों पुराने निशान

कुंभ की भीड़ से गुजरते हुए
बूढ़े होते इलाहाबाद को जाकर मेरी चिट्ठी दे देना तुम

वह तुम्हें मिलेगा संगम में किसी कश्ती पर बैठा
क्रोशिए की टोपी पहन कर

गंगा उसके कंठ में बसती है
अधरों पर होता है जमुना का नाम
सरस्वती का वह आशिक है
जो किसी जनम उसे मिलती नहीं

तुम किले के प्रेसीडेंट प्वांइट पर खड़े होकर
पुकार लेना मेरा नाम
वह पहचान लेगा तुम्हें
चोर चांद की नजर से
जैसे मैं तुम्हें पहचानती हूं
इलाहाबाद की नजर से

गुम होता शहर

शरद पूर्णिमा की रात
उदास एक लड़की
संगम के जल से भरती है कलम में स्याही
लिखती है इबारत
आप चाहें तो इबारत को कविता कह सकते हैं
कहने को कहानी

आप उसके शहर को भी किसी नाम से पुकार सकते हैं
प्रयागराज कहें या इलाहाबाद
ये दो नाम मिलना उस शहर की किस्मत है
किस्मत बदलने वाले हाथ
हाथ की पहुंच से दूर हैं

दूर तो शरद पूर्णिमा का चांद भी है
जो पास होता उसके दामन से दाग मिटा देती
दूर तो अब इलाहाबाद भी है
इलाहाबाद के भी पास नहीं इलाहाबाद

मुझे शक है प्रयागराज भी वहां आकर
अपना पता न खो दे
जब शहर खो रहे हैं अपना नाम
सड़कों के नाम जा रहे हैं बदले
निगाह फलक तक जाती है

मैं चांद के नाम को बचाना चाहती हूं
इस कोशिश में नजर आकाश के दरख्त पर
अटक जाती है

चांद जहां लटक रहा है पैशन फ्रूट सा
जी चाहता है उसे तोड़ लूं
दुनिया की निगाह से छुपा कर रख दूं
कि वह बच्चा भी अब दिखता नहीं
जो चांद को बताशा कहता है

चांद पर उंगली उठाने वाले हाथ तो अब तारों के हैं पास
तारे जो रेजगारी होते थे चांद की जेब के

मैं सहयाद्री से अब पीठ नहीं टिकाती

तारों की रेजगारी बटोरते हुए
पीठ कर लेती हूं इलाहाबाद की ओर

हां! मैं नहीं देख सकती उसे रोते हुए

देखती हूं उस उदास लड़की का चेहरा
जो भरती है संगम की दवात से कलम में स्याही
लिखती है इबारत
इस्माइल मेरठी की नज्म याद करते हुए–
कि करो सब्र आता है अच्छा जमाना

डरती है कि कहीं मेरठ भी न खो दे अपना नाम
जो वह खो दे नाम
कैसे रह जाएंगे इस्माइल सौ साल बाद भी
देश के विकास के लिए जब देता है इलाहाबाद
अपने 450 साल पुराने नाम की कुर्बानी

आज जिन्हें जरूरत नहीं
कविता-गजल गुनगुनाने की
खुसरो-गालिब से वाकिफ नहीं
बोस की टोपी पहन कर सलामी देते हुए
रच जाते हैं नया इतिहास
जिसे सुन कर तिरंगा होता है शर्मसार
उड़ जाता है लाल किले के चेहरे से लाल रंग
बोल नहीं पाता वह पत्थर का किला

पत्थर का बना तो मेरा शहर भी है
जिस पर लोग उछालते हैं पत्थर
भूल जाते हैं कि जब दो पत्थर आपस में गले मिलते हैं
जलते हैं दिल
जन्म लेती है आग

जो जलती है–जलाती है
फर्क होता है आग-आग में
वही फर्क जो होता है
इलाहाबाद और प्रयागराज में

❒

कहानी

फैसला

•

अंजली देशपांडे

झरने का स्वर अब कोलाहल सा लगने लगा है. वह उसे पीठ दिखाकर इधर चली आई है जहां उसका जल पहाड़ी से नीचे उतर रहा है. भीड़ में सुरक्षा होती शायद लेकिन अब ऐसी भीड़ भी बर्दाश्त नहीं होती उससे, पर्यटकों की यह अस्थायी बस्ती जो दोपहर बाद बोलेरो की धूल उड़ाती उजड़ जाती है अपने पीछे चिप्स के पैकेट और पानी की बोतलें छोड़कर. सहा नहीं जाता इस भीड़ की 'आह्हा' और 'वाऊ' के उद्गार.

डी-क्लास होने का फल है यह, दिमाग ने कहा.

शायद इसी वजह से उसे कुछ नहीं दिख रहा. न वृक्षों के झुरमुट में आंख मिचौली खेलते परिंदे, न भाग दौड़ के बीच सहसा चौंककर रुक जाते गिरगिटों के बदलते रंग, न पेड़ों से कंदीलों की तरह लटकते हरी चींटियों के घोंसले. दुबली सी नदी पत्थरों पर गुजरती जलतरंग-सी बज रही है. चट्टानों पर फुदकती रॉबिन बीच बीच में तीखी चोंच की बांसुरी बजा जाती है. लेकिन उसे सुनाई दे रहे हैं सिर्फ और सिर्फ पर्यटकों के अर्थहीन संवाद.

"सच्ची, ठाठ से रहते हैं, शुद्ध हवा, शुद्ध पानी."

"इनको तो कोई बीमारी भी नहीं होती होगी."

"जिन्दगी तो इनकी है. हम तो शहर में पिस रहे हैं."

पेट्टी बुर्जुवा! हिकारत से दिमाग सनसना जाता है. एक दिन इनको नहाने को गर्म पानी न मिले तो इसी शांति को चीर कर रख देंगे. क्या वह अब इस दुनिया में लौट सकती है?

महीनों से यही सवाल उसकी दुविधाओं पर हावी होकर उसके फैसले का आधार बनने तक आ पहुंचा है. वह चाह रही है कि सवाल लोप हो जाए. जगह गलत चुनी है. यहां जमा लोगों की सांसें हवा में यही सवाल ठूंसे जा रही हैं.

वह अकेले कहीं बैठ अपनी दुविधाओं के रेशे खोलना चाह रही है, सबकी सवालिया नजरों से दूर खुद से बातें करना चाह रही है. लेकिन अवश है. आंखें खुल चुकी हैं और बंद होना ही नहीं चाहतीं. जंगल नहीं दिखता उसे. दिखती हैं पेड़ों की उधड़ती जड़ें. जंगल का पूरा महकमा है, पत्ते-पत्ते पर राजसत्ता की मुहर लगाने के

जन्म : 1954
कृतियां : 'महाभियोग' और 'हत्या' (उपन्यास); 'अंसारी की मौत की अजीब दास्तान' (कहानी-संग्रह). प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित.

संपर्क : मो. : 9871167515
ईमेल : anjalides@gmail.com

वास्ते कार्मिकों की पूरी सेना है. क्या बचाया महकमे ने यहां पर? तस्करों का राज है जो पेड़ों की जड़ों के इर्द गिर्द खोद-खोदकर ले गए हैं अयस्क. पेड़ अपनी जड़ें धूप में सुखा कर अपनी चिता तैयार कर रहे हैं. आंधी के इंतजार में खड़े हैं कि आए तो उसे गले लगाकर सो जाएं. समा जाएं लक्कड़ माफिया के बैंकों में रुपया बनकर.

इनकी टपकी मृत शाखाओं को जलावन बनाने पर जिस वन विभाग के कर्मचारी यहां के निवासियों से जुर्माना वसूलते हैं उन्हीं की साबुत लाशों को मंडी भेजने का षड्यंत्र उसने करीब से देखा है. किस अदालत में क्या सुनवाई होगी? कानून पेड़ों की लुगदी पर छपा अखबारों में उद्धृत होता है और यहां चलता है रेंजर का कानून, डीएफओ का आदेश.

इनके और उनके बीच क्या कोई और जगह है जो सार्थक हो, उसी दिशा की राह में भी हो जो उसने कोई चार बरस पहले चुनी थी.

सवाल ही सवाल. वह जानती है, जवाब ऐसे सोचे नहीं मिलेगा. कदम उठाना ही पड़ेगा. दिमाग फैसला कर चुका है पर मन अभी भारी है. मन को मनाने, संध्या के इंतजार में, आज तीसरी बार इधर आई है. आखिरी बार. अब नहीं आएगी. खतरा है. अगर कोई पहचान ले?

संध्या नहीं आई तो? वायदा तो किया नहीं था, इंकार भी तो नहीं किया था. पूरे दस दिन हो गए कैंजिघोसरा से संजीब कोल्हा का मोबाइल लेकर फोन किया था. कभी-कभी करती है. भाई बहन की खबर मिलती है उसे. मां की. पिता की. इस बार तो लगभग साल भर बाद किया था फोन उसने. उसका प्रस्ताव सुनकर वह ऐसे चुप लगा गई थी कि लगा कनेक्शन ही कट गया है.

"मेरा एक बेटा है," संध्या ने उसका अनुरोध सुनकर कहा था.

"उसे आया नहीं चाहिए?" उसने खिसियानी-सी हंसी हंसते हुए पूछा था.

"बहुत कुछ बदल गया है. अब आधार आ गया है. तेरा तो होगा नहीं."

"सैंडी, तू 'ना' कह रही है?"

"सोचना पड़ेगा. नागेश से भी तो बात करनी होगी."

"मैं दो बार उधर जाऊंगी, नौ और दस तारीख को. सैटरडे, संडे है. आई तो आना."

"फोन कर दूं क्या..."

"नहीं, फोन नहीं करना. यह यहीं रह जाएगा. कल मैं जंगल की तरफ निकल जाऊंगी. उधर नेटवर्क नहीं है."

"कोशिश करूंगी. मंडे को भी देख लेना," संध्या ने कहा था. "मैटरनिटी लीव पर हूं. जिस दिन सास को समय मिले...बच्चा उसके पास छोड़कर आ सकूं, शायद."

इतनी अड़चनें. शायद नहीं आएगी. वह सिहर रही है. खूब ठंड है. इस साल शीत की लहर जोर की है, देर से आई और टिकी ही हुई है. कई रातों से ठीक से सोई नहीं है. कस के भूख लगी है. वह खुद को मुड़कर देखने से रोक रही है. जंगल के लाल फर्श पर बिछे अखबार. प्लास्टिक के डिब्बे. प्लास्टिक की प्लेटें. प्लास्टिक की बोतलों में पानी. प्लास्टिक की चम्मचें. पूरियां. परांठे. सब्जी. अचार.

पूरियों की महक से भूख और तेज हो गई है. उसने इन कुछ सालों में जान लिया है, भूख की आदत किसी को भी नहीं पड़ती. न ठंड की आदत पड़ती है. उन आदिवासियों को भी नहीं पड़ी जो पीढ़ियों से यहीं हैं और जिनके साथ ठंडी दीवारों से घिरे ठंडे फर्श पर पतले कंबल के भीतर तन की ऊष्मा बटोरकर नींद को बुलाने के प्रयास में झपकियां लेते उल्लुओं की खुट-खुट सुनते रात बिताती रही है. कुछ दिनों में गर्मी पड़ने लगेगी. तब मच्छरों के गीतों को तालियों की ताल देते रात कटेगी.

कितना अयस्क है यहां. लौह अयस्क. जमीन लाल हो रही है. कहां जा रहा है यह लोहा? यहां के बच्चों के सींकिया हाथ पांवों में तो दिखता नहीं जो सड़क किनारे खड़े पर्यटकों से भीख मांगते चिल्लाते रहते हैं 'बिस्कोट, बिस्कोट'. नीचे कैंजीघोसरा में घास के छप्पर तले की दुकान में चार-चार ग्लूकोज बिस्किट के छोटे-छोटे पैकेट के प्लास्टिक के थैले के थैले भरे पड़े हैं. पर्यटक खरीदते हैं, पचास रुपए के पैकेट, दर्जनों बच्चों के फैले हाथों पर रखने के लिए. मंदिरों के चढ़ावे से अधिक परोपकार का पुण्य. व्हाट्सैप पर चिपकाने के वास्ते फोटो ओपरच्युनिटी. पत्तों पर बिछे इन पैकेटों के चिकने गुलाबी कागज उन पर अपने ब्रांड चिपका रहे हैं. कुछ नहीं बचने वाला इस विकराल बाजार से.

आज तीसरी बार आई है, सोमवार को. पुलिस खुन्ती को अगर फिर जेल न ले गई होती तो आ भी नहीं पाती. चार दिन वह शहर में ही थी. जेल में बंद खुन्ती भूमिया का एक पैर तोड़ दिया गया था, पीठ भी टूटते-टूटते बची थी. अस्पताल में लाए थे जब उसकी जान पर बन आई और वह खुन्ती की बहन को लेकर वहां गई थी. रह रहकर कैसे खुन्ती के गले से निकलती थी टिनटिनाने की-सी आवाज, मानो चीखने की शक्ति नहीं बची होने से चीख को किश्तों में बाहर फेंक रही हो. जहां कैदी अदालत के संरक्षण में रहते हैं वहां, जेल में, यह सब किया गया था उसके साथ. यहां की जेल क्या किसी थाने की हिरासत से कम है?

"मार दो, दीदी...दीदी मार दो..." रिरियाती खुन्ती.

किसे? उनको तो मारते ही रहे हैं पर क्या बदला? या तुम्हें ही मार दें? उनका

काम आसान कर दें? तुम्हे मार देंगे तो क्या यहां के हालात बदल जाएंगे? उनको मारने से कैसे तुम्हारे साथ न्याय होगा? मन विकल हो उठा था.

यही चीखें तो उसे यहां तक ले आईं थीं, अब कैसे इन्हें अनसुना करके चल दे? मगर मन से नहीं मस्तिष्क से सोचना है उसे. अपने भावों को मारकर चली जाओ, कहता है दिमाग, पर कैसे छोड़कर चली जाए इस जुल्म को देखने के बाद? खुन्ती के पास क्या चारा है? और वह? डी-क्लास होने के दंभ के बावजूद उनकी तरह तो हो नहीं पाई न? उसके पास चारा है, इसलिए?

नहीं, दिमाग कहता है, भावुकता व्यवस्था परिवर्तन की जननी नहीं होती. मन कड़ा करना ही होगा...अभी तक जिस राह चली हो वह उधर नहीं जाएगी जिधर जाने के लिए चली थी कॉलेज से निकलकर, नौकरियों के लुभावने प्रस्तावों को ठुकराकर.

खुन्ती की बहन, रितनी ने एक आंसू नहीं टपकाया. पत्थर-सी बैठी रही. हवलदार के पूछने पर रितनी ने उसके बारे में बस इतना कहा कि वह मौसेरी बहन है. उससे तो मुंह ही फिराए रही. खुन्ती के गले की टिनटिनाने की आवाज दोनों के वैमनस्य पर हावी हो जाती थी. हवलदार सब जान रहा था. समझ रहा था. पर चुप रहा.

"आप लोग आए ना, ऐसा हुआ," अस्पताल से खाना लेने निकलते हुए कहा था रितनी ने.

वह बहस भी नहीं करना चाहती. "हम आए तो आपकी जमीन बची हुई है."

रितनी खामोश रही मगर उसके ही दिमाग ने उसे जवाब दे दिया.

"जंगल नहीं बचेगा. तुम भी नहीं."

उसे लगता रहा मौका मिला तो रितनी वहीं रह जाएगी. भाग जाएगी कहीं. वापस नहीं आएगी. इसीलिए उसे भेजा भी गया था रितनी के साथ. पार्टी को मालूम है, वे

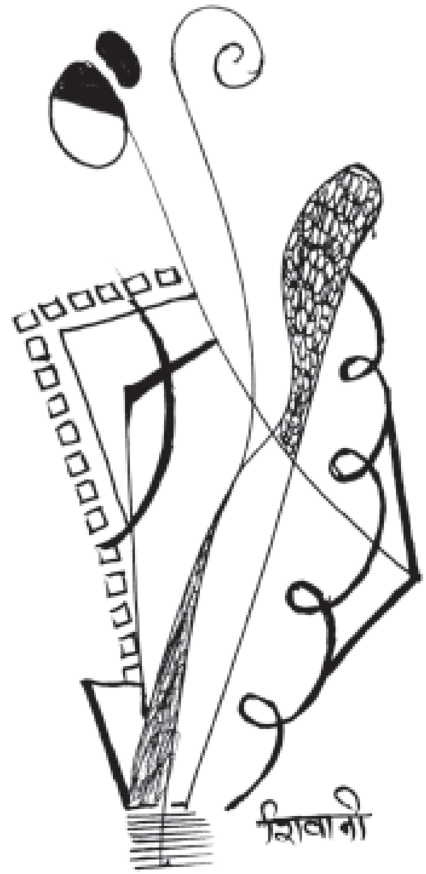

निकले हैं. उनका लौटना जरूरी है. हर गांव के एक एक इंसान के आने-जाने की खबर रहती है पार्टी को. अगर कोई नहीं लौटा तो पूरी छानबीन होगी. कहीं धर तो नहीं लिए गए? कहीं खबरिया तो नहीं बन गए? दुश्मन को अपने ठिकाने की खबर तो नहीं मिल गई?

"कॉमरेड, सेना का अनुशासन है पार्टी का अनुशासन. सब कुछ दर्ज होगा. सबकी खबर होगी."

उसकी सहमति शामिल थी, और है, इस अनुशासन में. युद्ध ऐसे ही होता है. वह जानती है.

जिस दिन खुन्ती पकड़ी गई, हाट में, आलू का बोरा लेती हुई, उस रात उसके गांव में उसी का डेरा था. दो दिन खुन्ती नहीं लौटी. अगले गांव के एक आदमी ने बताया था, पकड़ी गई है. उसी दिन गांव से सब निकल गए थे. छह गांव खाली कर दिए पार्टी ने. पूरे तीन महीने अंदर कैंप में ही रहे, सब के सब. पहले भी हमेशा एक जगह टिकते तो नहीं थे. दो दिन इधर तो चार दिन उधर. तब तो प्रशिक्षण शिविर भी उजाड़ दिया गया था दस किलोमीटर अंदर बसाने के लिए. असले की पिट्ठू बनी वह सोचती रही, अब निकलना और मुश्किल हो गया.

कब सोचा था उसने निकलने के बारे में कहना मुश्किल है.

"कॉमरेड, उनको टॉफी दे देंगे, तो बरगला देंगे," मोहन कह रहा था.

पर खुन्ती टॉफी का शौक नहीं रखती. थाने में झाड़ू लगाने की नौकरी की टॉफी. खबरिया बनाने के लिए काफी है यह सब?

"कॉमरेड वे मारे जाने के डर से नौकरी कर लेते हैं, यहां रहना नहीं चाहते," उसने रंजन से कहा था.

उसके सामने ही उनके एरिया से पांच जन निकल चुके हैं इसी तरह.

रितनी का ही बेटा बाहर हॉस्टल में पढ़ता है. दो साल से घर नहीं आया. रितनी कहती है उसका मन नहीं है. उसे लगता है रितनी भी नहीं चाहती कि वह लौटे.

"कॉमरेड, कुछ लोग बहक जाते हैं. कुछ डर भी जाते हैं," रंजन उसके साथ खुन्ती के घर तक आया था, जहां रितनी आई हुई थी. "यह तो उम्र की पकी है लेकिन बहन को देखकर हो सकता है पुलिस से कोई सौदेबाजी कर ले."

वह सर हिलाकर रह गई.

वह जानती है. खुन्ती मन से उनके साथ है. खुन्ती नहीं डरी थी. सरकारी प्राइमरी स्कूल में पढ़ाती थी. घर में खटिया के नीचे आलू के बोरे रखती थी बच्चों को उबालकर खिलाती थी और रटाती थी, "जंगल हमारा, जमीन हमारी, मरेंगे, मारेंगे, जमीन नहीं देंगे." धर ली गई थी तब तीन पुलिस खबरियों को मार गिराया था रंजन ने ही.

एक भाग गया था. "इन्होंने धोखा दिया खुन्ती को, बाहरियों ने नहीं", उसने कहा था.

मगर वह थर्रा गई थी, पहली बार. यही खबरी हैं, क्या सबूत?

महीनों बाद वह खुद कस्बे में गई थी अखबार लेने. रद्दी की तरह सहानुभूति से दस दिन का अखबार बटोर कर लाती है. इसी में से एक में छोटी-सी खबर थी. खुन्ती को यातना के बाद हस्पताल में भर्ती किया गया है. पार्टी ने मना किया था. नहीं जाना है मिलने. पर रितनी अड़ गई थी.

वापस कैंजिघोसरा तक रितनी को लाई तब सूझा था, संध्या को फोन कर देती. देर हो चुकी थी. बस में भी रितनी ने उससे कोई बात नहीं की. सिर्फ माथा लपेटे विचारों को अंदर बंद रखे रही.

अगर वे न होते तो क्या खुन्ती कभी जेल ना गई होती? किसके पास है इसका जवाब? इतने सालों से रह ही रहे थे, दिहुरी के सहारे, अपने देवी देवताओं को बलि चढ़ाते. सच, झूठ, न्याय, अन्याय बांचते हुए. वे लोग आए तो स्वागत ही हुआ था. अब भी तो कितने ही लोग उनके साथ हैं. उनके घरों के ही आसरे तो जी रहे हैं सब पार्टी जन.

"मगर यह खुन्ती और रंजन क्रांति नहीं कर सकते. कतई नहीं. यहां यही सिलसिला चलेगा. कभी वह मारेंगे. कभी हम मारेंगे," उसके दिमाग ने कहा.

और रितनी जैसे भी तो हैं. जब उससे कहा था कि खुन्ती से मिलने वह साथ जाएगी तो रितनी का चेहरा कैसे तन गया था.

शहर से लौटते हुए बस में उसने रितनी से पूछा, "तुम्हें लगता है हम नहीं होते तो खुन्ती घर में ही होती?"

रितनी ने मुंह फिरा लिया था. कम बोलते हैं पर चेहरा बोल देता है. तीन बार बस बदली दोनों ने. कौन खबरिया कहां पीछे लग जाए क्या पता. लेकिन बात एक बार भी अच्छे से नहीं हुई.

दिमाग ने कहा, अच्छा मौका है, रितनी को बस में छोड़ दो, पानी लेने उतरो या पेशाब के बहाने. बस को निकल जाने दो. भाग जाओ. मन भी किया था, न लौटे. मगर अस्पताल में जो हवलदार था, क्या जाने उसने पीछे लगा दिया हो किसी को? नहीं, यूं भाग नहीं सकते. इस तरह भागना रितनी से धोखा है. वह कहां जाएगी? उसके पास क्या चारा है?

"कॉमरेड, मुझे लगता है कि हम लोग अपने सैनिक टुकड़ी पर ज्यादा ध्यान दे रहे हैं. हमें यूनियन बनाने में ज्यादा साधन लगाने चाहिए. कितने ही जगहों पर स्पोंटेनियस प्रोटेस्ट हो रहे हैं. उनको दिशा चाहिए. संगठन चाहिए. क्या आप जानते हैं अनऑर्गनाइज्ड लेबर को संगठित करने का काम किस गति से चल रहा है? बहुत जरूरी काम है."

"वह भी हो रहा है," पार्टी के प्रखंड समिति के सचिव का भावहीन चेहरा और तटस्थ हो उठा था.

तिमाही आलोचना-आत्मालोचना का सत्र था. उसने हिम्मत बटोरी.

"कॉमरेड, मुझे स्वीकार करना है कि इस स्ट्रैटजी पर मुझे अब कुछ दुविधा-सी हो रही है. हमारी सेना छोटी है. हमको अपना प्रभाव क्षेत्र अगर बढ़ाना है तो ज्यादा मास वर्क करना चाहिए. ऐसा मुझे लगता है. मैं वह काम ज्यादा अच्छे से कर सकती हूं."

मोहन ने उसे देखा. "वह काम पार्टी का अलग हिस्सा कर रहा है. मास वर्क तो यहां गांव में भी हो रहा है. ऐसे ही तो खुन्ती जैसे कर्मठ कार्यकर्ता तैयार नहीं हो जाते."

एकदम से उसे गुस्सा आ गया था.

"कॉमरेड, खुन्ती हमारी साथी है. उसकी पीठ पीछे नहीं कहना चाहिए लेकिन अभी तक दूसरे कबीलों से दोस्ती का मन भी बड़ी मुश्किल से बना पाई है. उनकी पुरानी मान्यताएं कायम हैं. ऐसे क्रांति होती है?"

"आपको मालूम होना चाहिए कि लड़ाई में हर सिपाही को सब कुछ मालूम हो ऐसा जरूरी नहीं. मजदूरों में क्या जातिवाद नहीं है? है. फिर भी वे अपने हित में एक होते ही हैं. यह नामुमकिन है कि सब जन चेतना के एक स्तर पर हों. अलग-अलग तबके अपने अपने हितों के लिए ही लड़ेंगे. सबके हितों के बीच सामंजस्य बिठाना, सबके हितों को जोड़ना, यह पार्टी का काम है. पार्टी का नेतृत्व यह काम करता है. खुन्ती हमारी सिपाही है." सचिव धैर्य खोने को थे.

"मैंने कब कहा कि नहीं है? लेकिन यह याद रखना होगा कि वह अपना जंगल बचाना चाहती है. वह कोई नई दुनिया नहीं बनाना चाहती. उसने तो कभी गांव के बाहर की दुनिया ही नहीं देखी थी. देखा तो जेल और उसे जेल से छुड़ाने के लिए भी कुछ करना जरूरी है. उधर भी हमारा ध्यान नहीं है."

"हमारे पास इतने साधन नहीं हैं कि हर गिरफ्तार साथी के लिए हम उसे खर्च करें."

साधन इतने कम हैं तो ऐसे बेशकीमती कार्यकर्ताओं को मौत के मुंह में धकेलने की समरनीति क्यों बना रहे हैं? किसी अनजान संकोच ने यह सवाल बाहर नहीं निकलने दिया. संकोच? या डर? दिमाग सोता क्यों नहीं?

"यह आप बिलकुल सही कह रहे हैं," उसने आत्मरक्षा की रणनीति के रूप में हथियार डालते हुए कहा था. "कॉमरेड हो सकता है कि मेरा मिडिल क्लास करैक्टर हो लेकिन आजकल फिर से कुछ चीजें पढ़ने का मन करता है. कुछ मार्क्स के लेख हों या चीन का इतिहास हो..."

यह डर आज भी पीछा नहीं छोड़ रहा. तीन दिन, रोज-रोज इस तरह गायब हो जाना. खतरा है. कोई देख ले, किसी को शक हो जाए. उधर भी, इधर भी. उनसे कहा है कि गांव में बैठकें कर रही है, और की भी हैं. कई बैठकें की हैं. पिछले हफ्ते ही पता चला है इस जंगल का सौदा हो चुका है. दूर दिल्ली में किसी ने छह सौ किलोमीटर जंगल के पैसे ले लिए हैं. जो यहां रहते हैं अब वे घुसपैठिए हो गए हैं. कुछ रुपए देकर उनको बेदखल कर दिया जाएगा. यह बताने के लिए उसने कैंजिघोसरा और जर्गुरिया दोनों गांवों में बैठकें की हैं. अपने हक के लिए कमर कसने के लिए संगठित होने की बात की है. उससे ज्यादा गुस्सा गांव के लोगों में है. क्यों न हो? उनकी जमीन है, वे हर जड़ को, हर बूटी को जानते हैं, उनका घर छिन रहा है.

“कोरट जाएंगे,” रमिया पुहन छप्पर पर हेन्तल घास का गट्ठर चढ़ाना छोड़कर कूद पड़े थे नीचे. फिर उसे देखकर हंस दिए थे.

“शायद स्टे ही मिल जाए...” उसने रात सिद्दा से कहा था.

वह ऐसे चौंका कि उसके हाथ का भात पत्तल में जा गिरा. हंडिया में से छांटकर सुसाना अम्मा उसको पिंपडी से लदा भात देती है. वह आज तक इस कीड़े को खा नहीं पाई, काला सरसों का दाना समझकर भी नहीं.

“कोर्ट करेगी कुछ? इतना रिएक्शनरी बात कर रही हैं आप.” सिद्धा उसे घूर रहा था.

वह चुप रह गई. आजकल चुप ज्यादा रहती है.

पूरियों की महक से पेट में मरोड़ उठने लगी है. क्या इसी तरह से भूख हर सोच पर हावी हो जाती है? क्या इसीलिए भूखे लोग कभी विद्रोह कर नहीं पाते? बहुत हुआ तो भोजन के लिए किसी पर टूट पड़ते हैं, लड़ लेते हैं मगर विद्रोह? सोचा समझा, स्ट्रैटजी बनाकर, टैक्टिक समेत विद्रोह!

सुना है ऐसा भी किया था आदिवासियों ने पहले कहीं-कहीं पर अंग्रेजों के खिलाफ. तब शायद वन कुक्कट रहे होंगे ढेरों, भूख मिटाने के लिए. जंगल के सूअरों का लाल लाल मांस रहा होगा बाजुओं में ताकत भरने के लिए. खाया था एक बार जब रमिया ने शिकार किया था. ऐसा स्वाद कि कई दिनों तक उसकी स्मृति होठों पर जीभ फिरवाती रही. लगा था अब शहर के पोर्क सॉसेज कितने बेस्वाद लगेंगे, खा ही नहीं पाएगी. आज उसी मांस की याद फिर उभर आई है. उसकी अपनी भूख आज उसे सोचने नहीं दे रही या दिमाग उसे सोचने से रोकने के लिए तरह तरह के व्यंजनों की खुशबू परोस रहा है? कैसे इससे निजात पाए?

उसे अपने दिमाग में टपकते रक्त की टप-टप की आवाज सुनाई देती थी. आंखें उबलने को हो आती थीं. वह बेचैन होकर जंगल में निकल जाती थी. उसने अपना निशाना अचूक बनाने के लिए कितना अभ्यास किया था. एक बार, बस एक बार उनमें से कोई हाथ आ जाए. ऐसी जगह गोली मारनी थी कि मौत की भीख मांगें.

“तुझे लोबोटॉमी की जरूरत है,” उसके दिमाग ने अनायास उसे बताया. वह हमेशा कुछ न कुछ कहता ही रहता है. इससे तो जल प्रपात के पास ही बेहतर था. दिमाग की आवाज तो दबी हुई थी. पर वहां सामने फॉरेस्ट का रेस्ट हाउस है. खतरा था.

वह तेजी से नदी की ओर चली. पानी उसे बुलाता है. यहां बहुत पानी है. कुआं खोदो तो दस हाथ पर पानी निकल आता है. दक्कन के पठारों से इधर आई तभी से खीरो नदी के रूप देख दंग है. पियो, नहाओ, किनारे पहुंचो, मंझधार में जाओ, जमीन खोद लो, चट्टानों की आंखों में झांक लो, खीरो के व्यक्तित्व के कितने ही स्वरूप सर्वत्र मिल जाएंगे. कहां वह सूखी मूसा कहां यह छलछलाती, खिलखिल करती, अपने उधमी कारखाने से स्फटिक के खिलौने उछालती खीरो. दिमाग ने कोड़ा बरसाया. यहां भी फैक्ट्री याद आ रही है? पर इस खीरो की भी मौत का फरमान निकल चुका है. वन बिका है तो आकाश से धरती के गर्भ में जल पहुंचाने वाले पेड़ों को धराशाई होने में कितना वक्त लगेगा? धरती को नजर लग गई है उद्योगपतियों की.

संध्या कहा करती थी कि वृक्ष ही हैं दुनिया के मूल रसोइए. अकेले जीव जो किसी का नहीं खाते. सही मायनों में यही अहिंसात्मक हैं. यही हैं जो सचमुच हवा, पानी और रोशनी पर जीते हैं, उसी से अपना खाना खुद पकाते हैं, औरों को जीने का सामान मुहैया कराते हैं और कट जाते हैं कितनी आसानी से. आत्मघाती इंसान, वह सोच रही है. संध्या के साथ ही उसने वन देखा था पहले पहल जो वनस्पतियों और उनके योगिकों के लिए नमूने बटोरने उनमें विचरती थी. उसे पास के शहर में कृषि विश्वविद्यालय में नौकरी मिली तो कितना अच्छा लगा था. लेकिन वह कभी सहानुभूति भी नहीं बनी. उसके मांगने पर भी एक पैसा नहीं दिया, एक किताब तक नहीं दी पार्टी को. आएगी क्या वह? अपना पुराना वादा निभाएगी?

“नहीं आई तो?” दिमाग पूछता है. वह सोचना नहीं चाहती. आज उससे चला भी नहीं जा रहा, सर घूमने लगता है. कमजोरी सी महसूस हो रही है. फिर भी भीड़ से दूर जाने के लिए वह और तेजी से नदी किनारे ऊपर की ओर बढ़ गई. नदी के बीच बिखरे पत्थरों पर पैर टिकाते, डगमगाती-सी चली गई उस पार जहां लाल जमीन पर टपके भूरे पत्तों का गलीचा बिछा है.

उसने आंखें मूंद लीं. जोर की झपकी हिलोर-सी आकर झटके से उसे जगा गई. वह घबराकर चारों ओर देखती है. कोई नहीं है. बस नदी-तट पर हंसती काली बड़ी-सी चट्टान है, धूप में तपती हुई. उसने हाथ रखा. गर्म है. सर्दियों में धूप की तपिश. वह चट्टान पर बैठ गई. मन करता है लेट जाए. आंखें मींच ले. पर खतरा है. नींद आ गई तो? संध्या को भी तो खोजना है. चलो छोड़ो, संध्या ही उसे ढूंढ़ लेगी.

फिर दुविधा. इस दुविधा ने वह सपना ही छीन लिया जिसके लिए घर परिवार त्याग कर आई थी, भाई बहनों से अब कभी मिलना ही नहीं होगा सोचकर जितने आंसू उसने छुप के बहाए थे उनकी सूखी लकीरें अब भी गालों पर चुभती हैं. मगर अब उस सपने के टूटे टुकड़े पैरों में उलझे साथ चलते हैं. पहले लटक चुके पाजेब की तरह छनछनाते थे अब बेड़ियों की तरह भारी हो आए हैं. उन टुकड़ों को बटोरकर दुबारा सपना जोड़ नहीं पा रही है, पार्टी से कितनी मदद ले ली, यह हो नहीं पा रहा. अब और मदद की गुहार खतरे से खाली नहीं, ऐसा मोहन की बात से लगा था जब कुछ महीनों पहले उसने कई बार अपनी शंकाएं सबके सामने जाहिर की थीं.

बगल में बैठ बंदूक की नली में फूंक मारते हुए मोहन उसकी आड़ में फुसफुसाया था, "चुप रहा नहीं जाता? मर के ही मानोगी?"

वह उसे देखती रह गई थी.

"जिन्होंने राज जाने होते हैं उनका सुरक्षित रहना नामुमकिन होता है. न राजदार जीने देंगे न राज फाश करवाने पर उतारू लोग," मोहन ने कहा था. उसका सबसे नजदीकी कॉमरेड. उसे यहां जीने के तरीके सिखाने वाला उसका पार्टी गुरु.

पर मोहन कुछ भी कहे, वह रात भुलाए नहीं भूलती. पहला एक्शन नहीं था जिसमें वह साथ निकली थी. उसने आठ या क्या जाने नौ धमाके देखे थे. सुरंग बिछाने के बाद पेड़ों की ओट से उसने राज्य के दमनकारी बलों के वाहनों के उड़ते परखचे देखे थे. पहली बार यह देखने गई थी तब उत्साह के मारे छिप कर खड़ा रहना मुश्किल हो गया था. उसे लगा था कि धमाके से उसे खुशी होगी, बेहद खुशी होगी.

तब यहां आए कुछ ही दिन हुए थे. अब भी याद है भुनिया जिसे दस दिनों तक थाने में बंद रखा था. उसे बस मांस में एक छेद समझकर जो मिला ठूंसते रहे थे उसके अंदर यही वर्दीधारी. अब तक जो सिर्फ पढ़ा था, वह देखा पहली बार. मिली भुनिया से, उसके घर में रही. देखी थी उसकी भावहीन आंखें. चुपचाप कांटो से लदी हरकंच की झाड़ियां काटती रहती.

सोचने भर से क्रोध का आवेश उसके शरीर को झिंझोड़ देता था. उसके मुंह से सबके लिए बस एक समान गालियां निकलती थीं. मन करता था उन पुलिस वालों को उठा लाए, जमीन पर औंधा लिटाकर एक पैर उनकी पीठ पर टिकाकर एक तरफ से हाथ दूसरी तरफ से पैर उठा कर ऐसे मोड़े कि रीढ़ की हड्डी टूट जाए और उन्हें गड्ढे में फेंक दे सियारों का खाना बनने के लिए. लात उठाकर उनके पिछवाड़े पर जोर से ऐसे मारे कि मुंह के बल गिरें और अपने दांत निगल जाएं.

उसे अपने दिमाग में टपकते रक्त की टप-टप की आवाज सुनाई देती थी. आंखें उबलने को हो आती थीं. वह बेचैन होकर जंगल में निकल जाती थी. उसने अपना निशाना अचूक बनाने के लिए कितना अभ्यास किया था. एक बार, बस एक बार उनमें से कोई हाथ आ जाए. ऐसी जगह गोली मारनी थी कि मौत की भीख मांगें. उसके अंदर चीखें उबलने लगती थीं और वह अचानक से चिल्लाया करती थी. पार्टी ने शाबाशी देते हुए भी आगाह किया. गुस्से को दिशा दो. संयम रखो. बदला लिया जाएगा.

उस समय देखने गई थी वह पहला सुरंग विस्फोट. सुरंग बिछाने में उसका हाथ नहीं था पर जी कड़ा करने के अभ्यास के लिए यह दृश्य देखना जरूरी था. उसे पूरा विश्वास था कि सुरंग के फटते ही वह खुशी से झूम उठेगी. पर ऐसा कुछ नहीं हुआ था. धमाका तो हुआ था. उसने कटे हाथ-पैर देखे थे. पेड़ों के तनों पर जाकर चिपक गए जिगर और तिल्ली के चीथड़े देखे थे. आतताईयों के चीथड़े. पर खुशी कितने ही भावों के तले दब गई थी.

उस शोर के बाद का सन्नाटा उसके पेट में उतर गया और वहां से सब कुछ बाहर धकेलने को उतारू हो गया था. अपनी उबकाइयां उसने निगलीं थीं. दिल कड़ा किया था. 'यह जंग है. कोई चाय पार्टी नहीं,' माओ कह गए हैं. ऐसी खबरें कुछ वक्त बाद थोड़ी खुशी देती थीं. अब खुशी भी नहीं होती. एक निष्प्रयोजनता सी महसूस होने लगी है. लगता है पार्टी की दी हुई जिम्मेदारी निभा ली, बस.

तब ही से शायद दिमाग ने करवट लेना शुरू किया था. यह प्रतिशोध है. क्रांति नहीं है. क्रांतियां छोटे-छोटे प्रतिशोधों का कुल जमा नहीं होतीं. वे व्यवस्था को आमूलचूल बदलने के लिए व्यवस्था के भीतर एक नई व्यवस्था को आकार देकर उसे जन्मने, पोसने से होती है. वह क्रांति के लिए कमर कस के आई थी. फिर कैसे प्रतिशोध की भावना ने उस पर कब्जा कर लिया? किससे कहे?

"सचमुच मुझे लोबॉटमी की दरकार है," उसने खुद से कहा. दिमाग का एक हिस्सा कट जाए. शांति मिले. सो सके. वह चट्टान पर लेट गई. बस पांच मिनट. धूप सोखकर गरमाई चट्टान का सहारा मिलते ही

हाथ पैरों के जोड़ खुल से गए. एक झपकी लेने में क्या हर्ज है? फिर से पलकें भारी हो आई हैं.

कोई नौकरी तो है नहीं कि छोड़ दे. मन में जो झंझावात है वह किसे दिखाए? उसके अंदर हाथी की लंबी चिंघाड़ की गूंज बसी है. असहजता को विचार का संबल पाकर दुविधा बनने में ही दो बरस लग गए. इन दुविधाओं के जन्म के बाद ही वह उस ऑपरेशन में गई थी जिसने बहुत कुछ बदल दिया था.

आठ लोगों का दल था. मोहन भी उसके पीछे था. वन विभाग के दफ्तर और उसके पास बसाए गए टूरिस्ट विलेज पर हमला करना था. वही रेंजर हाथी के पास खड़ा था जिसे उसने किंगफिशर को नदी किनारे छेड़ते उसकी कीं-कीं-कीं की नकल करके हंसते देखा था कई बार. वह किसी को लकड़ी ले जाते देखता तो रास्ता बदल लेता या रुककर जरा-सा झिड़क देता था. उस घटिया रेंजर की तरह नहीं था जिसके पैंट की जिप मादा की गंध पाने को खुली रहती थी. वह गंदा रेंजर वहां होता तो वह शायद अपने हाथों से ही उसको नपुंसक कर आती. तब यह खलबली दिमाग में नहीं मचती.

उसको तो घास का छोटा-सा गट्ठर सर पर लादे आगे आगे चलना था, किसी सर्च पार्टी की आहट मिलते ही रास्ते में घास छीलने बैठना था. ऐसे ही चलते चले गए थे उधर, जिधर से तले जा रहे पकोड़ों की गंध आ रही थी. उसने कमर झुकाए बाड़े के अंदर घुसते हुए ही देखा था, खाली मैदान में झूला और एक-दूसरे से थोड़ी-थोड़ी दूर चारों ओर बने मिटटी और बांस के छोटे-छोटे मकान. छोटे-छोटे बरामदे. बरामदों में बांस की खपच्चियों की बेंच. एकदम ट्राइबल विलेज. ऐसा गांव जिसके बाशिंदे हर कुछ दिनों में बदल जाते थे. ऐसा गांव जिसमें पास के असली गांव के लोग लकड़ी जलाकर पूरी पकोड़े तल के खिलाते थे.

वह जानती है इस घास के छप्पर तले टाइल लगे हैं बाथरूम में. नल में पानी है, वेस्टर्न कमोड है. रही है ऐसी जगह वह, अपने पुराने जीवन में. टूरिस्ट जन सब अपने झोंपड़ों में बंद थे. ठिठुराती ठंड थी. अमावस्या की शाम को अंधेरे ने ऐसा कब्जा कर रखा था कि पेड़ों को जमीन पर अपने साए सुलाने को जगह नहीं मिल रही थी.

मोहन ने लपककर टूरिस्टों के कॉटेज के दरवाजों पर लात जमाना शुरू किया था. कैसे कांपते हुए बाहर निकले थे भीतर आराम से लेटे हुए लोग. ब्लडी पेट्टी बुर्जुवा. जंगल में आकर उसे शहर-सा कूड़ादान बनाने वाले. बस इतना ही देखा था उसने कि गोलियों ने रात की छाती चीर दी.

कितनी गोलियां चली थीं वह गिन नहीं पाई. कैसे गिनती? उनकी आवाज पर हाथी की चिंघाड़ छा गई थी. एक पैर लोहे की जंजीर से बंधा. तीन पैरों से खुद को घसीटता हाथी बावला हो उठा था और सूंड उठा कर चिंघाड़ता आगे को हो रहा था. उसे हैरानी हुई थी कि रेंजर को लगी गोली से हाथी इतना विचलित हो उठा था. एक इंसान के प्रति ऐसी वफादारी जिसने उसे गुलाम बनाया? किसलिए? दो रोटियों के लिए? अधेली गुड के लिए जो जंगल में कभी नहीं मिल सकता? मिठाई का छोटा सा टुकड़ा क्या ऐसे ताकतवर जानवर को भी गुलाम बना सकता है?

तय तो यही हुआ था कि सिर्फ हवाई फायर करके, आतंकित करके चले आना था ताकि टूरिस्ट आएं ही नहीं. आदिवासियों से जमीन छीनने का सबक मिले. पर जो तय होता है वह फील्ड में हो नहीं पाता, बहुत कुछ अप्रत्याशित सामने आ जाता है. स्थिति देखकर चाल बदलनी पड़ती है, निशाना बदलना पड़ता है. रेंजर ने पिस्तौल निकाल ली थी शायद. इसीलिए उस पर गोली चलानी पड़ गई. हाथी कुछ देर में बैठ गया था. उसकी सलेटी छाती पर बहता खून अंधेरे में दिखा ही नहीं था. किसी ने आग लगा दी थी उन झोंपड़ों से दिखने वाले वन विभाग के टूरिज्म को बढ़ावा देने वाली इस सुविधा को जो जंगल में मंगल का दावा किया करता था.

दस दिन बाद हाट में हंडिया बेच रही सुकूनी ने मां के पास पड़े पुराने अखबार में पढ़ा था, हाथी को ग्यारह गोलियां लगी थीं. वह अस्पताल में था. माने वहां से ले जाया गया था. वह मरा कि जिया उसे आज तक पता नहीं चला. रेंजर ठीक हो गया था. उसका घुटना प्लास्टर में था. गोली ने उसके घुटने को चकनाचूर कर दिया था. कोई पर्यटक घायल भी नहीं हुआ. इस राष्ट्रीय उद्यान में दो साल पर्यटन बंद रहा था. अभी अभी दोबारा खुला है. तभी तो वह आई है, तभी तो संध्या आ सकती है.

वह रात में हड़बड़ाकर उठ बैठती थी. क्या हाथी सचमुच बहुत लंबे समय तक सब कुछ याद रखते हैं? रखे न रखे, पर हाथी का क्या कसूर था कि उन्होंने उसे गोली मारी? उस रेंजर का भी क्या कसूर था? वह तो बुरा आदमी नहीं था. फिर वह किसी बीना की गर्भाशय तक पहुंचे बंदूक की नली के बारे में सुनती और वही सिपाही इंसान का दर्जा पाने लायक नहीं रहता, उसकी आंखें लहू में भीगी खाकी वर्दी देखने को बेताब हो उठती. मगर रेंजर को धरती पर कटकर गिरते देख उसके दिमाग में कुछ खिसक गया था. रेंजर का मुंह खुला था. आवाज नहीं निकली थी. या निकली होगी, हाथी की चिंघाड़ में दब गई होगी.

"मोहन सुनो, अगर अधिकारियों के लिए आदिवासी बस जंगली जीव हैं, तो हमारे लिए भी तो गाड़ी में बैठा सिपाही बस एक वर्दी है."

"तो क्या करें? उनको आराम से इधर उधर आने-जाने दें? फिर अपने एरिया को सुरक्षित कैसे रखेंगे? हमारा बेस है. बचा के रखना है ना?"

बात तो ठीक है पर जमती नहीं. ऐसा बेस अभी बनाने की जरूरत ही क्या है? न हो तो तैयार काडर कैसे सुरक्षित रहेंगे? यहां क्या सुरक्षा है? सुरक्षा ही चाहिए तो यह काम क्यों करें? कैसा कुचक्र है. हिचकिचाहट उसके सवाल को उसके ही आत्मविश्वास की कमी के अंदर दफन कर देती थी. कैसे पूछे? जानते बूझते तो आई थी यहां. जो यहां है बाहर तो उससे कहीं ज्यादा है. रोज रोज का दमन.

"मुझे लगता है ना..."

"कहिए कॉमरेड, कहिए. क्या लगता है आपको?" तंज है क्या मोहन के स्वर में? जो भी हो, अब कहे बिना रह नहीं सकती. साल भर से ज्यादा लग गया हिम्मत जुटाने में, अब पीछे नहीं हट सकती.

"मोहन मुझे लगता है जैसे अभी अपना देश बना नहीं और हमने सेना बना ली. सिर्फ सेना पर ही ध्यान जमाए बैठे हैं. हमें अभी से इस आंदोलन को सेना का रूप नहीं देना चाहिए था. सिर्फ सैनिक कार्य तो नहीं होता न क्रांति करने के लिए? लोगों के मन बदलने होते हैं, चेतना का प्रसार होता है. जिसे मास वर्क कहते हैं, वह भी तो जरूरी है न."

"एक काम करते हैं, सरकार से जाकर कहते हैं, हम इस व्यवस्था का तख्ता पलटना चाहते हैं. मास वर्क करना है, आप हमें खुली छूट दीजिए. देखते हैं वह क्या करेगी."

उसने दांत भींच लिए.

"यह मजाक की बात नहीं है. सच यह है कि हम लोग सैनिक कार्यवाही पर ज्यादा ध्यान दे रहे हैं. हमें संगठन का काम करना चाहिए."

मोहन उसका गुस्सा भांप कर शांत हो गया था. उसी ने प्रखंड समिति के सचिव के आने पर कहा था कि एक गंभीर चर्चा करनी है और उसे आगे कर दिया था.

सचिव ने उसे अर्थपूर्ण निगाहों से देखते हुए पूछा था, "कॉमरेड, आपका क्या कुछ... किसी के साथ..." और मुस्कुरा दिए थे.

"एक सवाल है," उसने जोरों से सर हिलाकर कहा था.

मोहन घूरे तो घूरे. जैसे उसने भुनिया को देखा था वैसे ही यहां आकर उसने देखा है मार्क्स ने जो वर्णन किया उसका मूर्त रूप. गांव के हर आदमी की जिंदगी एक सी होती है. खेत, फसल, सिंचाई, कटाई, हद से हद मंडी में जाकर फसल बेचने का अनुभव. ट्रैक्टर भी आए तो क्या बदला? बस गति द्रुत हो गई. आदमियों को खाली बैठे औरतों पर लात जमाने को ज्यादा वक्त मिला. उस पर भी जाति के भेद, पांति की सीढ़ियां. कैसे वे एक होकर सबके लिए लड़ेंगे?

"आप समझती हैं कि पार्टी इतने बेसिक्स नहीं जानती? आपको मालूम है ना कि गांव और जंगल से एक घेरा बनेगा जिसके केंद्र में आकर शहर के मजदूर इंकलाब करेंगे. यह एक दिन का काम नहीं है. हो सकता है कि हमारे जीते जी हो भी ना पाए. लगता है कि आप अभी से थक गई हैं." प्रखंड समिति के सचिव के शब्द संयमित थे, स्वर कठोर था और चेहरा सख्त. कितनी बार सुने थे उसने यह शब्द. अब इनपर भरोसा न कर पाना अपनी ही आकांक्षाओं से धोखा-सा लगने लगा है.

"मैं थकने की बात नहीं कर रही. मैं पार्टी लाइन की बात कर रही हूं. चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने जब लॉन्ग मार्च शुरू किया था तब उसकी सेना एक लाख की थी. ज्यादा ही थी शायद. अंत में सिर्फ सात आठ हजार लोग बचे थे. हमारी सेना का साइज क्या है? आठ हजार भी शायद नहीं है. जरा सोचिए, हमारी तो पार्टी के शायद सहानुभूतों को भी मिलाकर इतनी बड़ी संख्या नहीं होगी, जितनी बड़ी उनकी सेना थी."

"क्या पता हो? आप कैसे जानती हैं कि नहीं है?" जिला सचिव की आंखें सिकुड़ गई थीं.

"नहीं जानती. लेकिन जो भी हो, हमारी संख्या बेहद कम है. हमको अभी सैन्य कार्यवाही नहीं करनी चाहिए. मेरा मानना है कि अभी हम बहुत छोटी ओर्गानाइजेशन हैं. इतनी मुश्किल से एक काडर निकलता है, होल टाइमर काडर. और फिर इतनी जल्दी मार दिया जाता है. वेस्ट है. बर्बादी है मेहनत की. हमको एक एक काडर तैयार करने में सालों लग जाते हैं. और होता क्या है?"

सचिव चुपचाप सुनते रहे.

"आपको ऐसा नहीं लगता? अभी हथियार उठाने का नहीं संघर्ष के दूसरे तरीकों का समय है. कॉमरेड बताइए कितने काडर हैं हमारे? कॉमरेड, बताइए न, हमारी पार्टी में टोटल कितने लोग हैं?"

इस बार सचिव का चेहरा तमतमा गया.

"क्यों?"

उसे पता चल गया सवाल गलत है. कैसे पार्टी की सदस्य संख्या पूछ सकती है? जितना कम मालूम हो उतना ही पार्टी के लिए भी अच्छा और अपने लिए भी. कैसे भूल गई? उसे लगा गालों को वह तीली सुलगा गई जो सचिव के हाथों के सिगरेट के लिए माचिस से रगड़ खाकर भक्क से जल उठी थी. गला सूख गया. उसने बहुत बड़ी गलती कर दी है.

उसे डर लगने लगा. क्या करे? क्या कहे? कुछ कहते ही वह घोषित हो जाएगी रिएक्शनरी. शायद हो भी चुकी है. अगले दिन उसने जैसे इसी वर्गीकरण से बचने के लिए, एक तरह से सफाई देते हुए कहा था, मोहन से, "हमारे देश में कोई रिएक्शनरी हो

ही नहीं सकता, जानते हो क्यों?"

मोहन ने ठंडेपन से उसे देखा था.

"क्योंकि यहां क्रांति हुई ही नहीं. जब रिवोल्यूशन ही नहीं हुआ तो रिएक्शन कैसे होगा?" वह खिलखिलाकर हंसना चाहती थी पर हंसी कृत्रिम सी होकर शुरू होते ही सूख-सी गई.

मोहन की फीकी हंसी विद्रूप में बदल गई.

"इतना टेक्निकल होने की क्या जरूरत है?" उसने पूछा था. "आपकी बात समझ में आ गई. आपको लगता है कि हमारा रास्ता गलत है. बात खतम. पार्टी सोचेगी क्या करना है आपका."

सहम-सी गई थी वह. इन चार सालों में वह पार्टी के उस कोर क्षेत्र तक पहुंच गई थी जहां पुलिस कदम रखने की सोच भी नहीं सकती थी. जहां बच्चों के लिए स्कूल पार्टी के थे. जहां के लोगों ने अखबार नहीं देखा था. जहां दिहुरी का राज हुआ करता था. जहां दूसरे कबीले से दुश्मनी और अपने इलाके की हिफाजत का आदिम जीवन उनके चारों ओर था और वह खोज रही थी आधुनिक उद्योग, उसके मजदूर जिनकी एकता उनके कार्यक्रम की अहम् जरूरत थी. अब पार्टी सोचने वाली थी कि उसका क्या करना है. पार्टी के निर्देश का इंतजार गले में फंदा बनकर फंस गया था. लेकिन फैसला जल्दी ही आ गया था.

कुछ दिनों बाद जिला समिति से निर्देश आया था.

"कॉमरेड, आप की पढ़ाई में इतनी दिलचस्पी है देख के पार्टी को खुशी हुई," सिद्धा ने निर्देश पढ़कर कहा था, "आपको स्टडी सर्किल का इंचार्ज बना रहे हैं."

शंका के पाश में फंसी वह इस खुशी को भी भोग नहीं पाई थी.

"क्या मुझे कहीं बाहर भेजेंगे?"

"नहीं. यहीं."

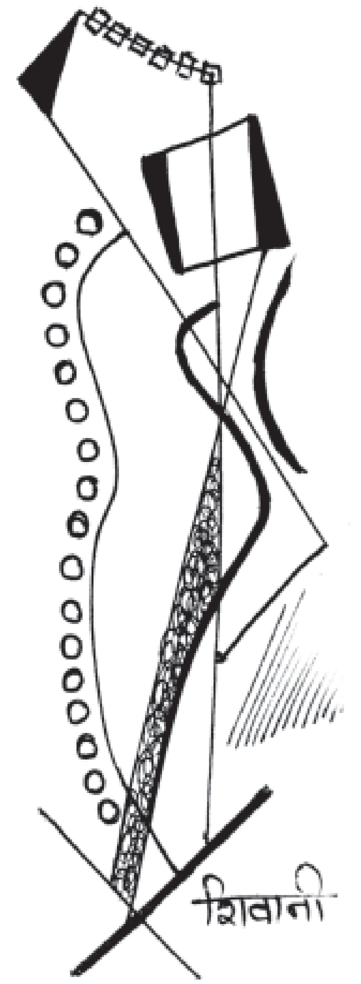

"मुझे बताओ सिद्धा, कैसे, मैं इनको क्या पढ़ाऊंगी? जिनको पता नहीं कि कैसे एक फैक्ट्री में हजारों मजदूर एक लय में अलग अलग हिस्सों में काम करते हैं. और सब मिल कर एक बड़ी चीज का निर्माण करते हैं, वैसे ही हम सब अलग-अलग काम करके भी नई दुनिया बनाएंगे."

उनको तो अभी तक यही समझ में नहीं आता है कि बिना नागा हर काम से पहले उन्होंने देवता को मुर्गे का खून पिलाया फिर भी बाहर वालों के देव कैसे जीत गए? जंगल में शाम फंदा बांधने पर सुबह जैसे मोटे रंग-बिरंगे पंखों वाले मुर्गे मिलते थे अब मिलते ही नहीं. क्या उन बाहर वालों का देवता ले गया सब? उसे कैसे सब मिल रहा है? मिट्टी अपना खून तक उलीचकर दे रही है उनको. उनका देवता जीत रहा है. यहां के देव हार रहे हैं. ये तो जंगल के ही देव हैं. इनके रहते कैसे बाहर से आकर ले गए सब कुछ बाहर के लोग?

"कॉमरेड, आपको अपना काम नहीं आता तो आप कैसे माओ की धारणा को चुनौती दे रही हैं?"

"चुनौती नहीं. मैं तो सोच रही हूं कि क्या सचमुच आदिवासी क्रांति कर पाएंगे?"

"क्या माओ ने क्रांति की थी?"

वह चुप रह गई. क्या कहे? इतना इतिहास आता कहां है? मगर आए ना आए, माओ ने इंकलाब तो किया ही था. क्या वह चीन में राष्ट्रवाद के उभार का फल नहीं था? जापानी हमले के विरोध को क्या माओ ने वर्गीय क्रांति के लिए इस्तेमाल नहीं किया था? यही तो उनका ऐतिहासिक योगदान था. वे अपनी परिस्थितियों में मार्क्सवाद को ढाल सके, उनका जीनियस. माओ के सामने नतमस्तक होने भर से क्या यहां भी वह सब हो जाएगा?

"मुझे लगने लगा है कि...कि..." अटक अटककर उसने कहा था, "यह वक्त जंगलों में छिपकर हथियार उठाने का नहीं बड़े उद्योगों में चेतना का स्तर बढ़ाने का है जिसके मजदूरों का ही सबसे अधिक शोषण हो रहा है."

"यहां से भी ज्यादा?"

"यहां दमन ज्यादा है, शोषण अलग चीज है."

"टेक्निकल चीजें बहुत आती हैं अपने कॉमरेड को," मोहन ने दखल दिया था.

उसे गुस्सा आने लगा था. टेक्निकल कह कर बुद्धि के उपयोग का मखौल बनाना, तर्क पर आधारित विकल्प को ठुकराने जैसा है, यह बात क्यों सबकी समझ में नहीं आती? कितनी मामूली-सी बात है. यह मोहन कैसे नहीं समझ पा रहा?

"एक बात बताइए, कॉमरेड सिद्धा. दमन और शोषण में फर्क होता है न. जो

जितना पढ़ा-लिखा है, जिसके पास जितना हुनर है उसका उतना ही ज्यादा शोषण होता है. रिक्शा चलाने वाले को तो रिक्शे पर बैठा आदमी क्लास एनिमी लगता है. वह नहीं जानता कि जो इंजीनियर उस पर सवारी गांठ रहा है दरअसल वही उससे ज्यादा शोषित है. उसका सरप्लस ज्यादा निचोड़ा जा रहा है. यही कहा है न मार्क्स ने? मार्क्स ने तो अमीर गरीब जैसी शब्दावली इस्तेमाल नहीं की. वर्गों की बात की. वर्ना मार्क्स में और गरीबी को गलत मानने वालों में कोई फर्क नहीं होता. क्यों मार्क्स ने वर्गों की बात कही थी?

"कॉमरेड इन आदिवासियों के लिए तो सिपाही दुश्मन. इनके लिए वह वन अधिकारी दुश्मन जो उनके छप्पर का माल चुरा लेता है, उनको लकड़ी बटोरने नहीं देता, शिकार करने नहीं देता. यही तो भाग-भागकर जा रहे हैं ईंट भट्टों पर काम करने, सड़क बनाने, घरों में झाड़ू लगाने कि यहां की भुखमरी से बचें और हम यहां उन्हें संगठित कर रहे हैं. जहां जा रहे हैं वहां भी तो हमें होना चाहिए."

सिद्धा ने जाने सुना या नहीं पर समिति से आया खत फाड़कर चिंदियां करते हुए कहा, "कॉमरेड, यही पार्टी का आदेश है. आप उन्हें कैसे पढ़ाएंगी आप ठीक से सोचिए. समिति आपकी पूरी मदद करेगी." खत फाड़े जाते हैं कि सबूत मिटे, उसका आदेश नहीं मिटता.

उसने कनखी से देखा, मोहन ने हिकारत से सर झटक दिया था. किसके प्रति है हिकारत? उसके? सिद्धा के? स्थितियों के? अब किसी से भी ज्यादा बात करना जोखिम से भरा है.

खतरा है यह जानते हुए यहां आई थी. पर यह खतरा अलग किस्म का है. अपनों के बीच रहते हुए महसूस होने वाला, हड्डियों में असुरक्षा की मज्जा भर देने वाला खतरा. ऐसा खतरा जिससे डर लगता है. पर उसका दिमाग सोता नहीं. कहता है किसान अपने गांव और जिले से आगे देख नहीं सकता, यह आदिवासी क्या देखेंगे? पर वह, वह तो शहर से है, पढ़ी-लिखी, कॉलेज गई है. वह भी कहां अर्थव्यवस्था के लंबे मकड़जाल को समझती है? क्या वही उस पूरे तंत्र को समझती है जो महापूंजीपतियों को घास की पत्ती से जोड़ता है? इस जंगल का, यहां के बाशिंदों का अस्तित्व कैसे अमेरिका के स्टॉक मार्किट से जुड़ा है, इस पेंच को समझे बिना क्या मुमकिन है इस तंत्र से छुटकारा पाना? क्या पता हो भी. कैसे जाने?

वह चुप तो हो गई मगर अब उससे यह सब सहा नहीं जा रहा. वह किसी से इस पर सिर्फ इसलिए बात करना चाहती है कि विचार को शब्द देने से जैसे उनकी रूप रेखा साफ होने सी लगती है. उसे लगता है कि किसी से बात कर ले तो उलझन के धुंधलके के भीतर तर्क कोई खिड़की खोल देंगे, सूरज की किरणें आकर विचार की ऊर्जा बनकर उसके वजूद में समा जाएंगी. उसका अस्तित्व हरिया जाएगा. पर किस से कहे? कैसे कहे? यहां तर्क का केवल प्रतिकार करने वाले हैं. कोई चर्चा को तैयार नहीं. वक्त ही कितना मिलता है?

अब यहां बस टैक्टिक पर बहस होती है. अब तो मूल धारणा को चुनौती देते नहीं बनता. बात कभी-कभी इतनी आगे निकल जाती है कि मुड़ना मुश्किल होता है मानो पैर आगे के कीचड़ में धंस गया हो.

"तुम नहीं जानती हो क्या? अगर गांव से दस्ते बन-बनकर शहर को घेर लें तो इंकलाब को कौन रोक सकेगा? इसके लिए आदिवासियों का मार्क्सवाद समझना जरूरी नहीं है, साथ में संघर्ष के लिए तैयार रहना जरूरी है. बड़ी आबादी के दस्ते शहरों को घेर ले तो कौन हमें रोक सकेगा? रोक भी सके तो भी क्या हमको कोशिश नहीं करनी चाहिए? चीन में ऐसा ही हुआ था. लगता है तुम्हें फिर से इंडोक्ट्रीनेशन के लिए भेजना पड़ेगा," मोहन ने कहा था.

"जानती हूं," उसने हड़बड़ाकर अपने जुर्म के निशान ढंके. कुछ भी कहना अब जुर्म सा लगने लगा है. "मैं यहां की बात कर रही हूं. शहर में कोई तो हो जो आगे का दस्ता बने, हिरावल दस्ता..." पर कहते-कहते चुप हो गई.

वह हमेशा ही चुप लगा जाती है. शहर में तो कुछ हो नहीं रहा...कहते हुए भी कह नहीं पाती. क्या पता हो ही रहा हो. उसे अब यह सब फिजूल-सा लगने लगा है.

"मोहन, मुझे बताओ न, वह जो सिपाही ट्रक में भरकर आता है यहां गाजर मूली की तरह कटने को, कच्ची रोटी खाता है, गर्मियों में लोहे का टोप पहनकर घंटों खड़ा रहता है थाने के बाहर. वह कैसे हमारा दुश्मन है? उसे मारने से क्या होगा? मुझसे यह हत्या नहीं होती."

मोहन के नथुने फड़फड़ाने लगते हैं. "वही जो बलात्कार करता है? वही जो भुनिया को उठा के ले गए थे, आठ दिनों तक उसका बदन तोड़ते रहे? बेशक वह इंसान है. सिर्फ भुनिया इंसान नहीं है."

वह मोहन को निर्निमेष भाव से देखती रह जाती है. लगता है, इतना मैकेनिकल है यह मोहन कि उससे कुछ कहना बेकार है. क्या हमेशा से ऐसा ही था? अन्याय के प्रतिकार की उसकी अदम्य इच्छा ने ही क्या उससे यह सच देख पाने की काबिलियत छीन ली थी?

तभी कुछ देर बाद मोहन ने उससे कहा था, बंदूक साफ करते हुए, "चुप रहा नहीं जाता क्या? मर कर ही मानोगी?"

उसे धक्का-सा लगा. क्या मोहन उसकी बातों पर सोच रहा है और प्रकट में जो कहता है वह सिर्फ आत्मरक्षा के लिए है? या उसने कबूल कर लिया है कि अब जो

भी हो वह यहां से जा नहीं सकता. उसने मोहन की आंखों में झांकने की कोशिश की पर वह उठ कर चलता बना था. बंदूक तब भी उसके हाथ में थी.

तब से वह मोहन से भी कुछ नहीं कहती. हो सकता है मोहन से सचिव ने कहा भी हो कि अब उस पर भरोसा नहीं कर सकते. मोहन ने आगाह किया, यही उसका एहसान है. उन्हें अगर शक हो जाए कि वह जाने की सोच रही है. वह सोचकर कांप उठती है.

अपने विचारों को समृद्ध बनाने की इच्छा को पेट्टी बुर्जुवा क्लास इंटरेस्ट के आरोप से कैसे बचाए? कैसे अपनी इस बढ़ती लालसा को स्वार्थ और स्वार्थ को फलसफे का रूप देने की लचर कोशिश कहलाने से बचाए. कैसे कहे कि जब वह आदिवासी युवाओं की भाषा में इस आधुनिक फलसफे को बताना चाहती है तो कहने को शब्द नहीं मिलते. उनके अनुभव में आधुनिक पूंजी के हाथों शोषण के इस नए रूप के लिए लफ्ज हैं ही नहीं. उसके बिना वे दलम के कमांडर तो बन सकते हैं, लीडर कैसे बन सकते हैं? जैसे पूंजीवादी व्यवस्था में भी सेना के कमांडर कभी राष्ट्रों के नेता नहीं बन सकते, शासक बन सकते हैं, नेता नहीं. कोई सुनने को तैयार हो तो कहे.

क्या करे? यहां पेड़ों से बात करे? पत्तों के भी तो कान होते हैं. निकल जाए? यही कोशिश तो कर रही है. पेड़ों की आड़ में पैदल आते कितनी ऊर्जा खर्च कर दी, कितना विचलन बहा दिया. आज चक्कर आने लगे हैं. आज पैदल लौट नहीं सकेगी. बस लेनी पड़ेगी. बस आ गई होगी, शाम होने से पहले लौटेगी. संध्या न भी आए तो किसी तरह यहां से निकल जाना होगा.

पर लौटे भी तो कहां? लौटे तो क्या है? जेल की कोठरी? पुलिस की शरण. बलात्कार? अब घर को लौटना मुश्किल नहीं, नामुमकिन है.

अपनी मौत के बाद की क्रांति के लिए मरने को तो वह तैयार होकर ही आई थी यहां, पर जो रास्ता उस ओर जाता ही नहीं उसपर चलते रहना उसे मंजूर नहीं है. यह भाव गांठ सा बनकर उसकी छाती में धंस गया है और दुखता रहता है. दो महीने तो हो ही गए होंगे उसे संध्या से बात करने की सोचे पर अब तक वह खुद को रोके थी. क्या पता वही गलत हो. क्या मालूम पार्टी ही ठीक कहती हो.

शेर याद आता रहता है आजकल. अब्दुल हमीद अदम का शेर,

'सिर्फ एक कदम उठा था गलत, राह-ए-शौक में, मंजिल तमाम उम्र मुझे ढूंढ़ती रही.'

उसे नहीं चाहिए यह प्रारब्ध कि मंजिल उसे तमाम उम्र ढूंढें. उसे नहीं चाहिए भूख का यह डी-क्लास होना जो भात और अचार के सिवाय कुछ सोचने ना दे. उसे नहीं चाहिए आदिम अस्तित्व जिसमे जंगल में काफल के उगने का इंतजार करना पड़े. पर लौटना आसान तो नहीं.

संध्या अगर आ जाए तो कितना अच्छा हो. उसका साथ मिले तो निकल पाएगी, वरना इस सुरंग के दूसरे सिरे पर तो जेल का कमरा ही मिलेगा. वही एक दरवाजा है जो उस दुनिया में खुलता है जहां से वह जवानी के एक रूमानी दौर में भाग आई थी. ऐसी मंजिल की तलाश में जो अब उसे कभी नहीं मिलेगी. तब भी वह तैयार ही थी मंजिल की राह में चलते चले जाने को, मारे जाने को, संघर्ष करते हुए मर जाने को... मंजिल मगर नजर में तो थी. अब उसकी नजर खाली है.

"हां-हां", वह मोहन से मन में कह रही है, "हां अपने जीते जी की बात नहीं कर रही हूं मैं. मैं बात कर रही हूं इटरनिटी की. कभी नहीं हो सकता इंकलाब इस रास्ते. दुनिया यूं भी खत्म होने वाली है. जागो."

संध्या आ जाए, वह निकल जाएगी. वह उसे अपनी डोमेस्टिक हेल्प बता दे. कोई नया अस्तित्व दे दे. कोई नई पहचान. वह रहेगी, उसके घर में, नौकर बनकर. खाना पकाएगी, उसके बच्चों के सामने अंग्रेजी नहीं बोलेगी. चुपचाप रात को छिपकर कमरे में लाइब्रेरी से मंगाई किताबें पढ़ेगी. हो सकता है किसी फैक्टरी में कोई काम मिल जाए. कोई दूसरा रास्ता खोजेगी, यहां की फौरी मजबूरियों से दूर.

संध्या यहीं कृषि विश्वविद्यालय में काम कर रही है. लुप्तप्राय कल्टीवार्स को खोजना उसका शौक है. उसने उसे यह रास्ता चुनने से रोकने की पुरजोर पर नाकाम कोशिश की थी. जब वह नहीं मानी तो उसी ने तो हंसकर कहा था, "अगर पुलिस पीछे पड़ गई ना, तो तू ऐसे करना मेरी नौकरानी बन जाना."

"क्यों? मैं क्या कायर हूं?"

क्या वह कायर है कि आज यहां छुप कर आई है इस उम्मीद में कि संध्या उसे ले जाएगी? उसके मध्यमवर्गीय घर में उसके बच्चे की आया बन कर वह पार्टी के कोप से बच जाएगी? पुलिस की नजर से बच जाएगी? वह भाग रही है, सच है, लेकिन इसलिए कि आई थी नए रास्ते की तलाश में, निकल रही है इसलिए कि उसमें साहस है अपनी भूल कबूल करने का. कहकर जा सकती होती तो भागती नहीं.

मगर यह सिर्फ उसकी समझ पर निर्भर नहीं है न. पार्टी तय करेगी उसके जाने का मकसद क्या था. पुलिस तय करेगी कि उसके लौट आने का मकसद क्या था और लौटने से पहले उसने क्या क्या किया था. कोई रास्ता अब निरापद नहीं है. जिसके हाथ लगेगी उसकी सजा को भोगेगी. पार्टी शायद बख्श भी दे, राजसत्ता अपने द्रोही को

नहीं बख्शती. अभी तो संध्या के साथ चली जाए. कुछ दिन सोचने का वक्त मिले, बाद में जो होगा देख लेगी.

थक गई है वह. सोना चाहती है पर जीप के हिचकोले सोने नहीं देते. वह पीछे जो बैठी है जहां धक्के ज्यादा लगते हैं. एकदम से उसे जोर का धक्का लगा. इतना बड़ा गड्ढा ड्राइवर को दिखा नहीं? कितनी जोर से उछली है गाड़ी और उसमें वह भी. झटके से आंखें खुल गई उसकी. गफलत में है. अच्छा ही है ट्रेनिंग काम आ रही है. आंख खुलते ही कुछ नहीं बोलना है. चुप रहना है. होश संभलने तक चुप रहना है. आसपास देखने सुनने का चौकन्नापन उसके सुस्ताए दिमाग को जगा रहा है.

सामने दो आदमी खड़े हैं.

"कौन है? कहां से?" एक पूछ रहा है.

जीप में नहीं, चट्टान पर लेटी है वह. पेड़ों के साए लंबे हो गए हैं. चट्टान से धूप खिसक चुकी है. कितनी देर सो गई? यहां चट्टान पर बस पलक झपकी थी. दोपहर ढलने को आई और वह सोती रह गई! क्या कर बैठी है वह?

एक आदमी तो निश्चित रूप से वन विभाग का है. वर्दी में है. उसका साथी वर्दी में नहीं है. अब क्या करे? तेलुगू बोले? सोचेंगे कुछ गिटपिट कर रही है. लगता तो नहीं कि उधर का है मगर समझ गया तो? मान लो उधर पोस्टिंग करके आया हो? अगर अंग्रेजी में उसे झिड़क दे तो? पक्का गिरफ्तार कर ली जाएगी. धंसे गाल, झुलसा सा शरीर, सस्ती सलवार, बदरंग स्वेटर और अंग्रेजी! मेल नहीं बनता. घसीट कर ले जाएंगे. रस्सी से बांधकर. यह सारे टूरिस्ट उसका वीडियो बनाकर मशहूर होएंगे. एक टेररिस्ट को पकड़े जाते देखा उन्होंने. माओवादी टेररिस्ट!

दोनों उसे घूर रहे हैं. "चल तो."

डंडे से एक उसकी कमर को ठेल रहा है कि उठ खड़ी हो. वह चुपचाप उठने लगी है. चुप रहना ही ठीक है. भागना ठीक नहीं होगा.

"अभी पुलिस के पास मेरी फोटो नहीं है. मुझे ढूंढ़ नहीं रहे," उसने संध्या से कहा था. पर इसका क्या सबूत? क्या पता हो? किसी तरह तफ्तीश में नाम तो आया ही होगा. कौन जानता है पुलिस के, सुरक्षा बलों के तरीके. नहीं, अब उसे यह खतरा मोल नहीं लेना है.

"कौन हो?" गार्ड पूछ रहा है.

वह खड़ी हो गई है. क्या संध्या कहीं है?

"तीन दिन से देख रहे हैं. रोज आती है. क्या देख बूझ रही है?"

"कांड की तैयारी हो रही है?" वह सचमुच क्यों आ रही है तीन दिनों से?

दिल जोर से धड़क रहा है. शरीर चुस्त हो रहा है, दिमाग चौकन्ना है. भागे? मौका नहीं है.

गार्ड उसे घूर रहे हैं. एकदम से बढ़कर एक गार्ड ने उसकी बांह मरोड़ दी है. दूसरे ने उसकी छाती धर दबोची है. उसकी चीख निकल गई है. लोगों ने सुना है शायद. कुछ ही लोग बचे हैं. आ रहे हैं इधर.

एकाएक उसे संध्या नजर आ गई जो इधर को आते आते ठिठककर खड़ी हो गई और अब मुड़कर जा रही है. उसकी आखिरी उम्मीद.

एकदम से उसने लात उठाकर गार्ड की जांघों के बीच दे मारी है, पर लगा वह कुछ ऊपर. गार्ड तिलमिलाकर नीचे बैठ गया और जमीन पर लोटने लगा. दूसरा गार्ड घबराकर उसे संभालने को झुका तो झटके से बांह छुड़ाकर वह लपककर जंगल की ओर हो ली. अंधेरा तेजी से घिरने लगा है. वह दौड़ती चली जा रही है. आगे जाकर नदी टापकर जाने कितनी देर बाद उसने मुड़कर सड़क को देखा जो उसकी बाईं ओर कुछ ही ऊपर को है. जीप आ रही है. शायद संध्या की हो. है, उसी की है. क्या वह उसे यहीं छोड़ जाएगी? संध्या अपनी जीप सरपट नीचे को दौड़ा रही है. उसके साथ बैठा उसका पति नागेश दूरबीन से क्या उसी को खोज रहा है?

वह पगडंडी पर दौड़ती सड़क के समानांतर जंगल की छाया में जीप की ही दिशा में नीचे को जा रही है. आगे महुआ के पेड़ के बगल में जीप धीमी हो जाएगी. वहां सड़क पर उभार सा है. वह पेड़ के नीचे हांफती-सी खड़ी हो गई है. पीछे से बस हिचकोले खाती आ रही है. उसे देख संध्या ने गाड़ी रोक दी है.

वह जानती है, जंगल में प्रवेश के समय उन्होंने अपना नाम लिखाया है. दो लोगों के प्रवेश की फीस दी है. लौटेंगे तो पर्ची वन विभाग की चौकी को लौटानी होगी. गाड़ी रोककर वे चौकी पर पर्ची जमा करेंगे. गार्ड आकर गाड़ी में झांकेगा. कोई बात नहीं, वह तो आधा किलोमीटर पहले उतरकर जंगल की राह चौकी से आगे निकलकर सड़क पर बैठ जाएगी.

फैसले की घड़ी आ पहुंची है. उनकी जीप कि बस? कैंजीघोसरा या शहर?

बस नजदीक आ रही है. वह लपककर महुआ के पीछे छिप गई. बस जीप को ओवरटेक करके निकल गई.

लगा जैसे यातायात का शोर थम गया. सन्नाटा सा छा गया है. वह उठी और धीरे-धीरे जीप के पास पहुंची. उसने संध्या को थकी नजरों से देखा. नागेश ने उतरकर पीछे का दरवाजा खोल दिया है. वह जल्दी से पीछे जाकर जीप में चढ़ गई. नागेश ने जीप का दरवाजा बंद कर दिया और वह नीचे फर्श पर बैठ गई. किसी को नजर ना ही आए तो बेहतर है.

❐

स्थानिकता के दुर्लभ होते जा रहे रंग-गंध

पल्लव

कथेतर

जगहों के इर्द गिर्द लिखना नई बात नहीं है. इतिहास और भूगोल के अलावा साहित्य के खाने में भी इलाहाबाद और काशी जैसे शहरों पर पचासों किताबें समय-समय पर दर्ज की गई हैं जिन्हें पढ़ना पाठकों को खासा भाता रहा है. क्या किसी खास जगह या शहर के दायरे में लिखने से उस जगह का अपना कोई खास चरित्र उभरकर आता है? वहां के इतिहास, भूगोल के परिप्रेक्ष्य में जीवन को देखने-समझने को कोई सर्वथा नई दृष्टि मिल जाती है? सुधीर विद्यार्थी के संस्मरण लेखन से गुजरते हुए इन सवालों का उठ खड़ा होना आकस्मिक नहीं है. सुधीर विद्यार्थी हिंदी साहित्य में बनारसीदास चतुर्वेदी के बाद अकेले लेखक हैं जिन्होंने स्वतंत्रता के लिए चले विभिन्न क्रांतिकारी आंदोलनों के संबंध में खूब लिखा. उनकी किताबें इतिहास को जानने-समझने के लिए जितनी भी महत्त्वपूर्ण हों लेकिन उनकी मूल प्रकृति साहित्य की है. इस बात का आशय यह नहीं कि इतिहास लेखन के लिए आवश्यक मानदंडों को ये पूरा नहीं करती अपितु उनकी किताबें साहित्य के रास्ते से न केवल आजादी के विभिन्न आंदोलनों के संदर्भ में हमें समझदार बनाती हैं और उनकी संवेदना इतिहास से अधिक गहरी है. अपने लेखन को जीवंत, प्रामाणिक और हृदयस्पर्शी बनाने के लिए वे अपने ऐतिहासिक चरित्रों की तलाश में जगहों, लोगों, घटनाओं और किताबों-दस्तावेजों तक जाते हैं. उनकी किताबें 'पहचान बीसलपुर' (2000), 'मेरे हिस्से का शहर' (2008), 'शहर के भीतर शहर' (2012), 'बरेली एक कोलाज' (2015) और 'फतेहगढ़ डायरी' (2015) पढ़ना कथेतर विधा के नए और अनजाने इलाकों में जाकर समृद्ध होना है. इस लेखन का महत्त्व इस दृष्टि से भी समझना चाहिए कि विभिन्न संस्कृतियों और बहुलताओं से भरे हमारे देश का साहित्य भी एकरेखीय नहीं हो सकता. यहां के लोगों को ठीक तरह से जानने के लिए यहां के अलग-अलग इलाकों के इतिहास, संस्कृति और भूगोल को भी देखना-जानना पड़ेगा, उसके लिए सुधीर विद्यार्थी कथेतर का रास्ता गढ़ते हैं जिस पर भरोसा किया जा सकता है. फिर पूछा जाए कि दुनिया भर के महान इतिहास के समक्ष बीसलपुर या पीलीभीत को देखने-पढ़ने का क्या औचित्य है? असल में ऐसे सवाल भूमंडलीकरण के बाद लोकप्रिय हुई उस समझ का प्रमाण हैं जिसमें दुनिया को एक गांव मानने का आग्रह करते हुए अपने गांव को भूल जाने का कोई खेद नहीं होता.

1

सुधीर विद्यार्थी की इन किताबों में पहली है 'पहचान बीसलपुर', जो उत्तर प्रदेश के पीलीभीत का एक छोटे से कस्बे बीसलपुर के जीवन और इतिहास पर केंद्रित है. अंग्रेजी शासन की क्रूरताओं से लड़कर आजादी की अलख जगाने वाले लोगों के बारे में हम सब कुछ कहां जान पाए हैं. उधर राजस्थान से हरिराम मीणा बताते हैं कि एक जलियांवाला बाग ही नहीं यहां जंगल जंगल जलियांवाला हुए हैं और केवल जलियांवाला ही क्या? मनुष्य का जीवन संघर्ष शाश्वत सच्चाई है जिसे किसी न किसी रूप में दर्ज करते रहना साहित्य की प्राथमिक जिम्मेदारी है. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध 'मेरी जन्मभूमि' में लिखा है, 'मेरा विचार यह है कि साहित्य का इतिहास कुछ बड़े बड़े व्यक्तियों के उद्‌भव और विलय के लेखे-जोखे का नाम नहीं है. वह जीवंत मनुष्य के धारावाहिक जीवन के सारभूत रस का प्रवाह है.' कहना न होगा कि 'पहचान बीसलपुर' ऐसी ही कोशिश है जिसमें विद्यार्थी जी ने अपने गांव में इतिहास और संस्कृति के चिह्न खोजते हुए पहले स्वतंत्रता संग्राम की यादों को समेटा है. फिर वे इस गांव से जुड़े कुछ फनकारों की चर्चा करते हैं. किताब की शुरुआत 'मेरा गांव, मेरे लोग' शीर्षक संस्मरण से हुई है जिसमें आजादी के बाद अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व गढ़ रहे गांव और छुटपन से किशोर हो रहे लेखक की निजी छवियां हैं. निजी प्रसंगों को आत्मीय भाषा से अंकित करते हुए भी विद्यार्थी भावुकता से बचते हैं, 'गेहूं की बालियां फूटने पर पिता सबेरे उठकर खेत देखने निकल जाते थे.

फसल पकने को आती तो पूरे गांव पर एक अजीब-सा नशा छाने लगता.' इससे ठीक पहले वे एक दिलचस्प प्रसंग बताते हैं कि गांव में कुआं खुदवाना निषिद्ध था क्योंकि वहां ऐसा माना जाता था कि कुआं बनवाने वाले की मृत्यु हो जाती है. उनके पिता नहीं माने और उनकी विजय ने इस अंधविश्वास को ध्वस्त कर दिया. विद्यार्थी जी ने आगे ठीक लिखा कि 'मेरे बाल मन पर इस घटना का बहुत असर पड़ा.' अगला अध्याय 'समय के साथ दौड़ता एक कस्बा' बीसलपुर के भूगोल का परिचय देता है जिसमें वहां के लोग, रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार, गली-मोहल्ले सब आ गए हैं. आगे वे शहर के विभिन्न स्थानों यथा 'मोरध्वज का किला', 'बिसई खेड़ा पर तीसरा पहर', 'कबीर के सामने', 'आर्यसमाज मंदिर', 'इलाबांस-देवल के मंदिर', 'हीरासिंह का चौरा', 'लोककथा के वेन' तक पाठकों को लिए जाते हैं जिनके साथ चली आती लोककथाएं, पुराने भूले-बिसरे गीत और अनेक प्रसंग इन जगहों को मूल्यवान बनाते हैं. 'स्वतंत्रता की हुंकार' खंड में बीसलपुर के स्वतंत्रता आंदोलनों और संघर्षों का लेखा-जोखा है. लेखक को बताते हुए गर्व होता है और यह गर्व उचित ही है कि उनके बीसलपुर का संबंध नाना साहब, तात्या टोपे और जवाहर लाल नेहरू से जुड़े. फिर वे यहां के स्वतंत्रता सेनानियों कुंवर भगवानसिंह, महाशय कुन्दनलाल, पं. श्रीराम, ठाकुर प्रसाद तथा राजबहादुर सक्सेना उर्फ राजा पर स्वतंत्र आलेख हैं. इन्हें आलेख कहना भी उचित नहीं क्योंकि कभी संस्मरण, कहीं डायरी तो कहीं साक्षात्कार की शक्ल में आया यह गद्य रंजक बन पड़ा है. व्यतीत का मोहक किंतु सजग चित्रण इसकी विशेषता है. कुंवर भगवान सिंह से संबंधित आलेख में उनकी जेल डायरी के लंबे विवरण हैं जिन्हें पढ़ते हुए समझा जा सकता है कि गांधी के नेतृत्व में चला स्वतंत्रता आंदोलन कोरा राजनैतिक आंदोलन न होकर सामाजिक-सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चरित्र वाला महान आंदोलन था. आगे योद्धा संन्यासी महाशय कुन्दनलाल पर आलेख है जिसमें भी उनकी लंबी डायरी दी गई है. विचारणीय है कि गांधी ने अपने आंदोलन को किस तरह सांस्कृतिक भी बनाया. 'मेरा जीवन ही मेरा संदेश है' कहने वाले गांधी को देखकर कितने कार्यकर्ता डायरी लिखने की जरूरत समझ सके और यहां विद्यार्थी जी के प्रति कृतज्ञता होती है कि इस किताब के मार्फत गांधी के ऐसे दो कार्यकर्ताओं का लिखा उन्होंने बचा लिया. 'फन और फनकार' शीर्षक खंड में स्वामी नारायणानंद सरस्वती 'अख्तर', गेंदनलाल 'बेनवा', रामचंद्र 'शैदा', हरनंदन प्रसाद 'आमिल', बनवारीलाल सक्सेना 'साबिर', हरस्वरूप सक्सेना 'अंजुम', रामचंद्र लाल राही 'राही बीसलपुरी', डॉ. फतहसिंह तथा राधारानी जैसे ज्ञात-अल्पज्ञात लोगों पर लिखा गया है जो फिर कथेतर के विभिन्न रूपों की आवाजाही का दस्तावेज बन गया है. लावणी में आशु कविता करने वाले कवि-सम्पादक स्वामी नारायणानंद सरस्वती 'अख्तर' का जीवन चरित पढ़ते हुए भारतीय गृहस्थ का अनूठा चित्र मिलता है जो संन्यास लेकर हिमालय चला गया है. लौटकर आने के बाद फिर कविताई में लग गए इस अनूठे आदमी आजादी के आंदोलन से प्रभावित होकर शिक्षा का कार्य किया तो लावणी में भी राष्ट्रीय चरित्रों के गीत लिखे. विद्यार्थी जी इन सब लोगों की श्रेष्ठ रचनाओं के नमूने भी देते हैं. भूमिका में विद्यार्थी ने उचित ही लिखा था, 'यह पुस्तक बीसलपुर क्षेत्र का मुकम्मल इतिहास नहीं है. यह हमारी एक कोशिश है यहां बिखरे पड़े इतिहास और संस्कृति के कुछ सूत्रों को तलाश करने और उन्हें पहचान दिलाने की.'

उनकी दूसरी और तीसरी किताब 'मेरे हिस्से का शहर' और 'शहर के भीतर शहर' शाहजहांपुर की पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं और यहां के लोग, गलियां, सड़कें, मुहल्ले, बाजार, दुकानें, नुक्कड़, चौराहे, अदालतें, हवालात और जेल इस सबसे सघन रिश्ते इन पुस्तकों की निर्मिति में रहे हैं. भूमिका में सुधीर विद्यार्थी ने लिखा है, 'इस पुस्तक में व्यक्तियों की जीवनियां नहीं हैं बल्कि उन लोगों के माध्यम से शहर के चरित्र, उसकी साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक हलचलों की आधाई अधूरी पड़ताल है यहां. यह मेरे अपने हिस्से का शहर है. किसी दूसरे के हिस्से का शहर कुछ और या इससे अधिक हो सकता है. मेरी अपनी दृष्टि और प्रतिबद्धताएं हैं. उसी से मैंने चीजों की नाप-जोख की है. मैं निष्पक्ष लेखक नहीं हूं और न ही वैसा होने का ढोंग मेरे पास है.' भूमंडलीकरण के बरअक्स स्थानिकता की बहस को समझने के लिए विद्यार्थी का यह काम महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे किसी महानता से आक्रांत होकर अपने गांव-शहर के लोगों का औचित्य प्रतिपादन नहीं करते. वे इन जगहों और लोगों का महत्त्व अपने होने में देखते हैं और आश्वस्त करते हैं कि इतिहास की गति में इन सबकी भी कोई न कोई जगह है. 1857 के विस्मृत शहीद डंकाशाह उर्फ मौलवी अहमदउल्ला शाह फैजाबादी पर लिखे संस्मरण 'मजार में दफ्न सिर' से पुस्तक प्रारंभ होती है और हमारे दौर के लोगों

तक ये गाथाएं चलती आती हैं. शाहजहांपुर से संबंध रखने वाले पं रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खां, ठाकुर रोशन सिंह, चंद्रशेखर आजाद के गुरु मास्टर रुद्रनारायण सिंह, क्रांतिकारी राजाराम भारतीय सहित दर्जनों ज्ञात-अल्पज्ञात स्वाधीनता सेनानियों के संस्मरण इस पुस्तक में हैं. इन्हें पढ़ते हुए लेखक की अनुभूतियों की तीव्रता महसूस की जा सकती है कि किस तरह वे एक-एक सेनानी के संबंध में अपनी गहरी रुचि के कारण यात्राएं करते हैं, उनके घरों-मुहल्लों में जाते हैं, पत्र लिखते हैं और इतिहास के छूट गए हरुफ जमा करते हैं. बिस्मिल और अशफाकउल्ला के परिजनों विशेषतः माता-पिता पर लिखे गए संस्मरण बार-बार स्वाधीन देश में शहीदों के साथ हमारे समाज और सरकार की आपराधिक उदासीनता याद दिलाते हैं और खिन्नताबोध उत्पन्न करते हैं. हां, बीच-बीच में ऐसे उदाहरण हैं जिन्हें पढ़ना सचमुच भरोसेमंद लगता है. बिस्मिल की बहन शास्त्री देवी के हवाले से पता चलता है कि जवाहरलाल नेहरू ने पांच सौ रुपये भेजे थे, जिनसे जमीन खरीदकर बिस्मिल की माता को मकान सुलभ हो सका. स्वतंत्रता आंदोलन से इतर शाहजहांपुर के दूसरे लोग भी किताब में आए हैं जिनमें स्काउट आंदोलन से जुड़े श्रीराम वाजपेयी, कथाकार भुवनेश्वर, छायावादी कवि होरीलाल शर्मा 'नीरव', कवि चोंच, पंडित बशीरुद्दीन, माशूक आली, गप्पी बाबू उर्फ काशीनाथ कपूर के बारे में जानना-पढ़ना दिलचस्प है. ये उन मामूली लोगों में हैं जिनके छोटे-छोटे काम किसी शहर या कस्बे को बाद तक याद करने की वजहें दे जाते हैं. 'शहर के भीतर शहर' की भूमिका के प्रारंभ विद्यार्थी जी ने इस तरह किया है, 'मैं बार-बार अपनी जमीन पर लौटकर क्यों आता हूं? यह सवाल मेरे लिए भी उतना ही अनसुलझा है जितना कि किसी दूसरे से पूछने पर वह मुझे इसका उत्तर देना चाहेगा. एक शहर के भीतर कई शहर होते हैं. सबके अपने-अपने शहर. लोग, सड़कें-गलियां, पेड़, आसमान, हवा वही पर सभी के भीतर उनकी तस्वीरें जुदा-जुदा. रंग अलग-अलग. खुशबुएं बदली-बदली. हमारे अंदर जो शहर आंखें खुलते ही उगता-पनपता और आकार लेता जाता है उसकी पूरी छवियां आप किसी को दिखाना चाहें तो क्या संभव है.' यहां लोगों के साथ-साथ जगहों और घटनाओं पर भी विद्यार्थी जी पाठकों को ले जाते हैं. इस पुस्तक की शुरुआत शाहजहांपुर के सेंट मेरी चर्च से होती है जो 1857 की यहां हुई घटनाओं का साक्षी रहा था. इस चर्च को शशि कपूर की प्रसिद्ध फिल्म जुनून में भी फिल्माया गया और रस्किन बॉन्ड के एक उपन्यास में भी यह आया. परिसर के कब्रिस्तान, स्मृति लेख और फादर से चल रहा विद्यार्थी जी का वार्तालाप मिलकर अतीत के अदृश्य को मूर्त कर देते हैं. आगे शाइर और 1857 के प्रत्यक्षदर्शी बेनीमाधव रुसवा, 1932 के शाहजहांपुर बमकांड के जुड़े क्रांतिकारी, अनेक पत्रकार-कवि और शायर यहां आए हैं. उर्दू लेखक कमर रईस, कथाकार हृदयेश, पत्रकार पी.डी. टंडन, कथाकार राजी सेठ, कवि और 'नया प्रतिमान' के संपादक श्याम किशोर, नाटककर राजेश कुमार और संस्था अनामिका इस किताब के मुख्य किरदार हैं. इन संस्मरणों में खुद विद्यार्थी का अपना व्यक्तित्व भी देखा जा सकता है और खासकर तब, जब वे अपने समकालीन लेखकों से अपनी असहमतियां दर्ज करते हैं. हृदयेश पर लिखा गया संस्मरण इसकी गवाही देता है. शहर की सांस्कृतिक संस्था अनामिका के संबंध में जानना सचमुच रुचिकर है कि किस तरह छोटे शहरों में भी लोगों ने कला संस्कृति के लिए माहौल बनाए रखा. पुस्तक में 'मेरा राजहंस' शीर्षक से आए संस्मरण में लेखक की अपनी ट्रेजडी है. उनके पुत्र चंदन के सड़क दुर्घटना में निधन पर लिखे गए इस संस्मरण को हिंदी के शोक लेखन का एक दस्तावेज माना जा सकता है. अपने आत्म से ऐसा संघर्ष करता यह गद्य अपनी प्रकृति में मार्मिक और स्मृति से भरा है और निराला के महान शोक गीत 'सरोज स्मृति' की याद दिलाने वाला है, 'चंदन, मैं जानता हूं कि तुम्हारे शरीर की किसी कोशिका का कोई अस्तित्व नहीं है आज. फिर भी जो बंधन हमने कभी पिरोया, ढाला था, वह बाकी है. तुम्हारी स्मृतियों को ठेलकर किसी कमरे में बंद कर देना संभव नहीं है. तुम्हारी आवाज, तुम्हारा रोना और बिछ जाना, तुम्हारे पैरों की धमक, तुम्हारा आइने में अपने को बड़े होते देखना-सब कुछ याद रहेगा मुझे.'

2

उत्तर प्रदेश के नक्शे में आसपास दिखाई दे रहे चार शहरों पर लिखी गई किताबों में फतेहगढ़ डायरी शीर्षक से आई उनकी चौथी पुस्तक का उप शीर्षक है 'इतिहास और समय से संवाद', यहां वे 1993 से 1996 तक रहे. वे बताते हैं कि फर्रुखाबाद जिले का यह मुख्यालय प्रदेश की बड़ी सेना छावनी होने के नाते देश भर में जाना जाता है. आगे और बताते हैं कि 'क्रांति-पथ पर चलने वाले उन विप्लवियों के लिए तब नैनी, बरेली और फतेहगढ़ की जेलें दमन की बड़ी चक्की बनी थीं, जहां आजादी के बाद भी सत्ता और

व्यवस्था के खिलाफ खड़े होने वालों को भी इनमें कम नहीं पीसा गया.' फतेहगढ़ की जेल में अनशन करते हुए शहीद हुए क्रांतिकारी मणींद्रनाथ बनर्जी पर प्रारंभ में लंबा संस्मरण है जिसमें मन्मथनाथ गुप्त का दस्तावेज भी शामिल है. यहां 1993 में बनर्जी की शहादत के बाद पहली बार उनका बलिदान दिवस मनाया गया. इस दिन विद्यार्थी ने जो कहा उसका एक अंश द्रष्टव्य है, 'बनारस जैसा कभी क्रांतिकारी चेतना से सम्पन्न रहा शहर जहां से ब्रिटिश सरकार को बहुत कोशिशों के बाद उन दिनों एक भी सरकारी गवाह नहीं मिल सका था जब नौजवानों ने विप्लवी संग्राम की शुरुआत की थी, वह आज इतना खामोश और ठंडा क्यों हो गया है कि उसने मणींद्र के घर की सुरक्षा नहीं की. आज वह नष्ट होने के कगार पर है और जहां नशेड़ियों-गंजेड़ियों का जमावड़ा लगा रहता है, जबकि वह हमारे निकट अतीत के क्रांतिकारी संघर्ष का बड़ा स्मारक हो सकता था-हमें प्रेरित करने वाला. आज नई पीढ़ी में कौन जाने पांडे घाट स्थित मणींद्र का घर उन दिनों क्रांतिकारियों का बहुत बड़ा केंद्र था. लेकिन कहां हैं शहीदों की मजारों पर मेले, कहां हैं उनके बाकी निशां?' क्रांतिकारी के बाद साहित्यकार की जन्मस्थली का हाल भी वैसा ही है, 'अत्यंत साधारण से दिखाई पड़ने वाले इस मकान के आसपास न तो कोई बोर्ड लगा है, न ही पत्थर जो, बाहर से आने वाले साहित्य-प्रेमियों को महादेवी जी के जन्मस्थल की जानकारी दे सके...इस शहर के पल्ला तिराहे पर महादेवी जी की संगमरमर की एक प्रतिमा लगी हुई है, जिसका अनावरण डॉ. शिवमंगल सिंह सुमन ने किया था. फाल्गुन पूर्णिमा को महादेवी जी के जन्मदिन पर कुछ लोग इस स्मारक पर फूल चढ़ाने के लिए इकट्ठा होते हैं लेकिन सब कुछ रस्म अदायगी जैसा ही रहता है. उनके उपेक्षित जन्मस्थान की तरह यह प्रतिमा भी भीड़ भरे बाजार में स्तब्ध और खामोश खड़ी है.' शायर गुलाम रब्बानी ताबां, क्रांतिकारी योगेश चंद्र चटर्जी, क्रांतिकारी अनंतराम श्रीवास्तव, स्वामी अछूतानंद,पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी, यशपाल, गुलाब बाई, राममनोहर लोहिया, जगदीश नारायण त्रिपाठी जैसे लोगों से जुड़े स्थलों पर जाते हैं और उनके इस शहर से संबंधों को बताते हैं. यहां की जगहों, बातों और प्रमुख घटनाओं को भी उन्होंने दर्ज किया है. फर्रुखाबाद का आलू, कन्नौज का इत्र, स्वराज्य कुटीर, गंगा के घाट और हिटलर के प्रशंसक परिव्राजक जी और अछूत खीर का दिलचस्प किस्सा ऐसे ही अध्याय हैं. विद्यार्थी जगहों और लोगों को देखने-समझने के क्रम में केवल नायकों की तलाश नहीं करते बल्कि जीवन के प्रवाह में आ गए उन लोगों से भी पाठकों को मिलवाते हैं जिन्हें हम खलनायक कहते हैं. एक अध्याय आजाद पर गोली चलाकर उनके प्राण हर्णे वाले दरोगा विश्वेश्वर सिंह पर भी लिखा गया है जो जीवन के अंतिम दिनों में विभ्रम का शिकार था और उसे लगता था कि आजाद उसे गोली मार देंगे. वह दरोगा फर्रुखाबाद का था. इसी तरह वे 1865 में यहां के अंग्रेज कलक्टर चार्ल्स इलियट को भी याद करते हैं जिसने 'हमारे देश के एक ऐसे लोककाव्य (आल्हा) को लिखवाने में दिलचस्पी दिखाई जो सदियों से स्मृतियों की उंगली पकड़कर जनमानस में यात्रा करता आ रहा था.' हमारे देश के पुराने इतिहास, स्वतंत्रता संग्राम और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में फर्रुखाबाद जैसे आमतौर पर अनुल्लेखनीय शहर भी कितने समृद्ध और संपन्न हो सकते हैं इसे जानने के लिए विद्यार्थी जी की यह संस्मरणात्मक कृति काम की है. उनका गद्य यहां गंगा की लहरों सरीखा कभी धीमा तो कभी आवेगमय मालूम होता है.

शहरों-जगहों पर लिखी कथेतर की इन कृतियों में आखिरी (और सबसे भारी भी) किताब बरेली पर है. 'बरेली एक कोलाज' में इस शहर के तमाम रंग और गंध को समेटने की कोशिश है. इस शहर की शान और पहचान बन चुके बरेली कॉलेज पर एक लाजवाब संस्मरण है. इस कॉलेज की स्थापना 1837 में हुई थी और बाद में 1905 में यह अपने नए भवन में आया. उस समय इस नए भवन का उद्घाटन अवध-आगरा के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जेम्स जोंस डिगस लाटूश ने किया था. इस मौके पर प्रतीक चिह्न के तौर पर उन्हें सोने का एक ब्रेसलेट भेंट किया गया था जिस पर कॉलेज का इतिहास लिखा गया था. अब यह ब्रेसलेट जाने कैसे ऑस्ट्रेलिया में सिडनी की पुराने सामान की एक दूकान पर पहुंच गया और इसे वहां के बार्गन दंपति ने खरीद लिया. बात यहां से शुरू हुई. वे 2004 में भारत यात्रा पर आए तो यह ब्रेसलेट कालेज में आकर कालेज को सौंप गए. इस छोटी-सी कहानी को पूरा होने में सौ साल लगे और तीन देशों के लोगों ने इसे मुकम्मल किया. विद्यार्थी जी ने बहुत अंतरंग ढंग से यह विवरण लिखा है. खैर, इस शिक्षा केंद्र की देश में बड़ी ख्याति थी. 1857 में इस कॉलेज के अध्यापक कुतुबशाह को कालापानी तथा यहां के छात्र जैमिग्रीन को फांसी की सजा मिली. पुस्तक में बेगम हजरत महल

के जासूस मुहम्मद अली खान उर्फ जैमिग्रीन और कुतुबशाह पर पूरे अध्याय हैं जिन्होंने 1857 की क्रांति में बलिदान दिया. 1857 के इस मुक्ति युद्ध के बरेली से संबंध पर विस्तार से लिखने के बाद विद्यार्थी ने यहां के केंद्रीय कारागार पर भी एक अध्याय लिखा है जहां का इतिहास भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का गौरवपूर्ण दस्तावेज बन गया है. यहां क्रांतिकारी प्रतापसिंह बारहठ,वीर चंद्रसिंह गढ़वाली, एम.एन. रॉय, काकोरी कांड के अनेक क्रांतिकारी यहां बंदी रहे थे. क्रांतिकारियों के चालीस दिन लंबे चले अनशन का भी रोमांचक दस्तावेज इस अध्याय में दर्ज हुआ है. आगे के अध्यायों में विद्यार्थी जी ने क्रांतिकारी गतिविधियों से जुड़े दामोदर स्वरूप सेठ और कामरेड शिव सिंह पर लिखा है. साहित्य-संस्कृति से जुड़े पं. राधेश्याम कथावाचक, इस्मत चुगताई, निरंकार देव सेवक, हरिवंश राय बच्चन, होरीलाल शर्मा नीरव, शमीम बरेलवी, के.पी. सक्सेना पर आगे पूरे अध्याय हैं जिन्हें पढ़ते हुए इस शहर के खास रंग दिखाई दे जाते हैं. सूरमे, मांझे और झुमके के लिए प्रसिद्ध इस शहर के किस्से इन अध्यायों में आते गए हैं. प्रसिद्ध शख्सियतों के अलावा जिन कुछ और लोगों पर संस्मरण बेहद जीवंत और पठनीय बन गए हैं उनमें 'इतिहास की देहरी पर खड़ी एक मौन शहादत' (खान बहादुर खां), 'सद्भाव की विरासत' (चुन्ना मियां), 'और उस बेचैन जिंदगी से मुलाकात हो गई' (हरीश जौहरी), 'गंगापुर चौराहे पर इल्ली' (कामरेड इल्ली पहलवान), 'गुरहा भवन का भावुक यादनामा' (कामरेड सतीश गोपाल गुरहा) और 'धर्मनिरपेक्ष जिंदगीनामे के अक्स' (प्रो. कृपानंदन) प्रमुख हैं. असल में पुस्तक का आस्वाद टुकड़ों में खोजना कठिन है. तमाम संस्मरणों-घटनाओं के विवरणों और दस्तावेजों की समग्र छवि मिलकर पुस्तक को यादगार बनाती है. 'पुराने शहर की छत पर' शीर्षक से लिखी गई भूमिका में विद्यार्थी भले स्वीकार करें कि, 'बरेली की साहित्यिक और सांस्कृतिक तस्वीर को देखने की मेरी यह कोशिश अभी आधी-अधूरी है. इस शहर की अनेक छवियां मेरे भीतर विद्यमान हैं.' तथापि उनके सरोकार पुस्तक को स्थानिकता के दुर्लभ होते जा रहे रंग-गंध से सराबोर करने वाले हैं. जैसा कि इसी भूमिका में आगे वे लिखते हैं, 'राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय होने से पहले मैं क्षेत्रीय या इलाकाई होना ज्यादा पसंद करता हूं. मेरे लिए उस हवा, पानी, गंध को अपने भीतर उतारना बेहद सुखद है जो उस भू-खण्ड की है, जिस पर सांस लेता हूं.' 'अशफाकउल्ला और उनका युग' के बारे में सुधीर जी की अपनी टिप्पणी इन किताबों में आई है, 'मेरे लेखन का दोष यह था कि वह पुस्तक न जीवनी थी और न ही इतिहास. मेरे आगे के कार्य भी कुछ इसी ढंग के बिखराव भरे बने रहे.' असल में यह बिखराव ही उनकी कृतियों को हमारी संस्कृति और भाषा के अनछुए पहलुओं के करीब लाता है जहां इतिहास और साहित्य जीवन से मिलकर नई ऊर्जा दे रहे हैं. उनका यह समूचा काम कहानी या उपन्यास के रूपबंध में नहीं आ सकता था, यह कहना कठिन है लेकिन इस बिखराव में लक्षित के साथ जो अलक्षित आता गया है वह असल में कथेतर को विधा का गौरव देता है. यहां विद्यार्थी ने संस्मरणों को लिखने में कभी रिपोर्ताज, कभी डायरी, कभी भेंटवार्ता तो कभी अंकन जैसे रूपबंधों का प्रयोग किया है किंतु समग्रता में इनका आस्वाद कथा से कहीं अधिक है.

3

जगहों-शहरों पर केंद्रित साहित्य की ऐसी कृतियों में कवि हेमंत शेष की 2019 में आई किताब 'चार शहरनामे' को इस कड़ी में और देखा जा सकता है. राजस्थान के शहरों-कस्बों जयपुर, पुष्कर, टोंक और प्रतापगढ़ पर लिखे चार शहरनामों को जोड़कर बनी इस किताब में आधी जगह अकेले जयपुर को मिली है. शेष जयपुर के निवासी हैं और यहां से उनका जुड़ाव हार्दिक है. (आत्मिक बधाई के फेसबुकिया दौर में हार्दिक किंचित पुराना शब्द है लेकिन भूलना नहीं चाहिए कि यह हृदय से निकला है) किताब के शुरुआती पन्नों पर ही शेष ने लिख दिया है, 'जयपुर मेरा प्रिय शहर—जहां जन्मा, बड़ा हुआ और शायद यहीं मरना भी चाहूं. ये वह शहर है जिसके बारे में न जाने कितने लोगों ने कितनी बातें कहीं हैं, पर जब अपने शहर की किताब के पुराने पन्ने टटोलता हूं मुझे इसके आरंभिक पृष्ठों पर ही लिखा दिख जाता है : अपना बेफिक्र बचपन   दोस्तों के साथ दिनभर खेलने-खाने, सैर-सपाटा, मौज-मस्ती करने के बेफिक्र दिन.' तब भी किताब शुद्ध संस्मरणों से नहीं बनी है यहां इतिहास, भूगोल और जगहों के इंदराज आए हैं. जयपुर के सुदीर्घ इतिहास की सुनहरी झलकियां दिखाते हुए शेष वहां के गली-मुहल्लों तक पाठकों को ले जाते हैं और वहां की दबी-छिपी बातें निकाल लाते हैं, 'गलियां छोटी-छोटी होती थीं और दुपहरियां बहुत लंबी-लंबी. युवा कामदग्ध जोड़े एकांत खोजते-खोजते ही वृद्ध हो जाते. पर बच्चे अस्पताल के अलावा और कहीं भी हो सकते थे.

कोई बेइंतहा खूबसूरत चेहरा कभी-कभी उस छोटी-सी खिड़की से बस पल दो पल को झांकता और बादलों में छिपते हुए चांद की याद दिला जाता. जब कभी वह पान खाती तो गले में पीक उतरती दिखती, उसका एक नाखून तक देखने को कामी लोग तरस जाते. बाहर जाते वक्त सारा शरीर एक चादर में लिपटा होता. कजरारी आंख की पुतली के सिवा.' जयपुर की सुंदरता और वैभव के ऐसे सुंदर दृश्य इस अध्याय में देखे जा सकते हैं. पुरानी बस्तियों के अवशेषों पर उग आई नई कॉलोनियों का इतिहास और जगहों से जुड़े रोचक वृत्तांत भी शेष बताते चलते हैं. अनेक वर्षों से विदेशी पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र बन गई छोटी-सी नगरी 'पुष्कर' पर लिखे गए अध्याय की शुरुआत एक नेत्रहीन संन्यासी के साक्षात्कार से होती है. शेष उस मिथक या प्रवाद की सच्चाई खोजते हुए इस संन्यासी तक आए थे कि क्या प्राचीन वैदिक काल की सरस्वती नदी यहीं से बहती थी? संन्यासी ने प्रतिवाद किया, 'सरस्वती नदी को पुष्कर से जोड़ना ही गलत है. अरे, मूल सरस्वती नदी तो उत्तर पंजाब में थी–सिंध प्रांत से निकलती थी और राजस्थान और गुजरात से कच्छ के समुद्र तक पश्चिम में जाती थी.' धीरे धीरे कुछ मुलाकातों में यह संन्यासी अपने जीवन की छोटी सी कथा भी शेष के समक्ष खोल देते हैं,' एक सामाजिक नागरिक के साधु होने की, पुष्कर में आ बसने की कथा–वह जन्मांध नहीं थे–इलाहाबाद विश्वविद्यालय के स्वाधीनता से पहले के पुराने ग्रेजुएट थे–एक दुर्घटना ने उनकी नेत्रज्योति हमेशा के लिए छीन ली...संपत्ति खास थी ही नहीं, एक के बाद एक मां-बाप चल बसे, सगे-संबंधियों ने मुंह मोड़ लिया, जीवन में कुछ ऐसी ही और भी कई बुरी घटनाएं एक के बाद एक घटित हुईं, एक के बाद एक इतने सदमे लगे कि और हादसे झेलने की ताकत ही जैसे खत्म हो गई...दो बार अपने प्राण लेने की कोशिश भी की पर असफल रहे. तीसरी दफा आत्महत्या करने की कोशिश को आत्मा ने उचित नहीं माना. लिहाजा घर-बार छोड़कर साधु हो जाने के सिवा कोई मार्ग नहीं सूझा...देश के हर कोने में भटके, यायावरी में दर-दर की खाक छानी, घाट-घाट का पानी पिया...अंत में पनाह दी तो नांदगांव के ऊपर पड़े काबरा पहाड़ की तलहटी के इस शिवालय ने–न कोई तिलक न गुरु न कंठी न कोई संप्रदाय. अब जैसा भी है–यही है जीवन.' राजस्थान के नवाबी इलाके टोंक की गाथा भी कम दिलचस्प नहीं. राजस्थान की प्रसिद्ध नदी बनास यहीं से बहती है. उसका एक वर्णन शेष की कलम से, 'अगर आप शाम के धुंधलके में बनास के निर्जन किनारे पर अकेले खड़े हो जाएं और जल की सतह पर डूबते हुए सूरज की सुनहली रोशनी को पश्चिम में अचानक बुझ जाते देखें तो पता नहीं कितनी तरह के कैसे-कैसे विचार इस बूढ़ी नदी का कांपता हुआ पानी आपके भीतर जगाता है.' इसी नदी में एकाएक पानी आ जाने से डूब के खतरे में घिरे एक किसान परिवार का चित्र इस अध्याय को रोचक और जीवंत बनाता है. अभी तक (2008 तक) चित्तौड़गढ़ जिले के भाग रहे प्रतापगढ़ में कुछ अरसा शेष जिला कलक्टर रहे थे. यह अध्याय उन्होंने उसी अवधि में लिखा. चित्तौड़गढ़ या मेवाड़ के राजवंश की ही एक शाखा ने यहां का राज्य स्थापित किया और इस आदिवासी इलाके में कुछ किलों-महलों का निर्माण करवाया. आज वे किले-महल कैसे हैं? शेष ने एक विहंगावलोकन हमारे लिए इस अध्याय में कर दिया है लेकिन खेद है कि वहां के बहुसंख्यक निर्धन आदिवासियों के बारे में किताब में कुछ अधिक नहीं मिलता.

4

अंत में दो कवियों की काव्य पंक्तियां याद आती हैं. कविवर नंद चतुर्वेदी ने अपनी कविता 'पुराना घर' में लिखा है, 'हमारे रहते-रहते भी/शहर बदल जाते हैं इतने/कुछ बदलता हुआ नजर नहीं आता/जब हम इतनी जगह रुकते हों/पूछते हों अपने पुराने घर.' गति से आक्रांत हमारे समय में चल रहा यह लॉकडाउन अवकाश दे रहा है कि अब हमारी संस्कृति के भूले-बिसरे ठिकाने बन चुके इन शहरों-कस्बों-स्थानों को तनिक ठहरकर देख लेने में कोई हर्ज नहीं. क्या पता मनुष्यता की कोई नई राह इन खंडहरों से मिल सके. इनके पुराने तौर-तरीके हमें कोई नई तहजीब बता दें और यह दुनिया उतनी नफरत से भरी न रह जाए. जाहिर है कि दुनिया भर को जानने वाले हम लोग अपने इन शहरों-कस्बों को नहीं जानते, जैसा कविवर केदारनाथ सिंह ने 'शहरबदल' शीर्षक से लिखी गई अपनी एक कविता में कहा है :

'वह एक छोटा-सा शहर था
जिसे शायद आप नहीं जानते
पर मैं ही कहां जानता था
वहां जाने से पहले
कि दुनिया के नक्शे में कहां है वह.'

❒

संपर्क : pallavkidak@gmail.com

कहानी

उस टोले का भोज

•

निशि रंजन ठाकुर

खासपुर में अभी बिन्नू के श्राद्ध भोज की चर्चा सबसे खास है. वक्त के साथ एक लंबे संघर्ष ने बिन्नू के शरीर को जर्जर कर दिया था. फिर साठ पार उम्र भी हो गई थी. बीमार पड़ा. बेटे ने इलाज में कोई कसर नहीं छोड़ी. मालिक ने अपने परिचितों की मदद से बड़े डॉक्टर के पास तुरंत देखने का नंबर लगाया. फिर शहर के बड़े अस्पताल में भी दिखाया. लेकिन बिन्नू नहीं बचा. लोग कहते हैं–बिन्नू की छाती में दर्द होता था. असहनीय दर्द. डॉक्टर का इलाज काम नहीं आया. लेकिन बिन्नू को इलाज के लिए लेकर गए उसके टोले के लोग. यह भी कहते हैं कि उस दर्द में भी मरते समय उसके चेहरे पर एक चैन था, शांति थी. प्राण निकलते वक्त जैसे चेहरे पर एक मुस्कान आ गई थी. बिन्नू के इलाज के लिए विलक्षण दिल्ली से छुट्टी लेकर आया था. वह कई दिनों से गांव में ही था. लेकिन बिन्नू को बचाया न जा सका. अब बिन्नू की मौत के बाद उसके श्राद्ध भोज पर तरह-तरह की चर्चा थी. रवि और संजय जिनको विलक्षण ने दिल्ली में काम पर रखवाया था–बता रहे थे कि दिल्ली में तो विलक्षण का बड़ा ठाट-बाट है. फ्लैट में रहता है. हर तरह की सुविधा है. लेकिन कितना भी पैसेवाला हो जाए, गांव में तो अभी भी विलक्षणा ही है. इसको तो दिल्ली में ही श्राद्ध कर लेना चाहिए. वहां सब तरह की सुविधा होगी. यहां तो कई अड़चनें आएंगी. टोले के बड़े बुजुर्ग से भी राय मशविरा किया गया. घंटू मड़र, झुनक लाल, तनुक सभी ने कहा–देखो श्राद्ध में तीन दिन का भोज होता है. जिसको औकात नहीं रहती है घर पीछे एक जना भी कर देता है. जिसको भगवान ने दिया तो पूरे टोले का पूरा परिवार भी न्यौतता है. ज्यादा चले बने तो नारदी और कीर्तन करवा दो अंतिम दिन, तेरहवीं को चौबीस घंटे का. बस, अभी तो ऐसा ही होता आया है. दूसरी तरफ पूरे गांव की नजर विलक्षण पर लगी थी. इस टोले का आदमी पैसावाला बना है तो देखना है न उसके धन का धमाड़. ऐसे मौके पर ही तो दिखता है, कौन कितने पानी में है. वरना गाल से दीवाल गिराने वाले तो बहुत हैं. विलक्षण ने सबकी बात सुनी. सबसे बात की. लेकिन उसके मन में तो कुछ और ही चल रहा था.

जन्म : 1974, ध्रुवगंज, भागलपुर
शिक्षा : बी.ए. ऑनर्स
कृतियां : नया ज्ञानोदय, वागर्थ, पाखी, राष्ट्रभाषा, दखल आदि में कहानी, कविताएं व आलेख प्रकाशित.
संप्रति : प्रभात खबर, भागलपुर संस्करण में न्यूज एडिटर

संपर्क : द्वारा डॉ. बी.एन. झा, नीलांबर, एस.के. तरफदार रोड, पीडब्ल्यूडी ऑफिस के सामने, आदमपुर चौक, भागलपुर-812001
मो. : 7782939289
ईमेल : nishiranjanthakur@gmail.com

सभी की बात सुनने के बाद विलक्षण ने कहा–बाबूजी ने जो मेरे लिए किया उस कर्जा से तो कभी मुक्त मैं हो ही नहीं सकता हूं. भगवान की कृपा है तो अब पैसों के लिए भी किसी के मोहताज नहीं हैं. चाहते हैं–बाबूजी का श्राद्ध भोज एकदम अलग हो. ऐसा कि सभी याद रखें. हम चाहते हैं–हम पूरे गांव को खिलाएं. पूरे गांव को नेतने का मन है. विलक्षण के इतना कहते ही बैठकी में मरघटी सन्नाटा छा गया. सन्नाटा टूटा घंटू मड़र के खांसने से. गले का खखार-बलगम फेंकते हुए घंटू मड़र बोला–'तुम समझ रहे हो कि क्या तुम बोल रहे हो. भूचाल आ जाएगा. सदियों पुराना है हमारा गांव. ऐसा कभी हुआ है क्या. पूरवारी, पछियारी टोला के लोग हमारे टोला में आएंगे बिन्नू का श्राद्ध भोज खाने?' ऐसे सपने भी देखने की इजाजत नहीं है हमारे टोले में. झुनक लाल और तनुक ने भी कहा–'जो हो ही नहीं सकता, उस पर बात करके समय बर्बाद नहीं करें हम लोग.' विलक्षण ने शांत व संयत स्वर में कहा–'लेकिन कोशिश करने में क्या हर्ज है.' बैठकी में जैसे गर्म लू चलने लगी थी. कोशिश की बात करता है. हमारा जीना-बाहर निकलना मुश्किल कर देंगे, अगर इस तरह की बात भी उन तक पहुंची. एक बुजुर्ग ने अपना सिर हिलाते हुए कहा–'आवाज में अभी कंपकंपाहट थी.' विलक्षण अभी भी शांत था–'हम चाहते तो दिल्ली में बहुत बड़ा भोज कर सकते हैं. हम अपने टोला में भी बड़ा भोज कर सकते हैं. ऐसा जो अभी तक नहीं हुआ है. लेकिन आपलोग ही बताइए–जंगल में मोर नाचा, किसने देखा. इस बार मोर नाचे तो पूरा गांव देखे. पूरा समाज देखे. सिर्फ हमारा समाज नहीं देखे. वह समाज भी तो देखे, जिस समाज के हम सबसे उपेक्षित हिस्सा हैं.' एक सन्नाटा फिर पसर गया. बैठकी धीरे-धीरे उठने लगी थी.

बिन्नू ने सब दिन बड़घरी के लोगों की चाकरी की थी. बड़घरी खानदान का बड़ा वफादार नौकर था बिन्नू. मालिक उस पर बेटे से ज्यादा विश्वास करते थे. कोसी कछार से लेकर पूर्णिया तक की खेती-बाड़ी का देखभाल हिसाब-किताब बिन्नू के पास था. पशुपालन का भी उतना ही गजब का जानकार. गोशाला की जिम्मेवारी भी उसी के जिम्मे थी. घर तो उसका भी गांव के बाहर बने टोले में ही था. लेकिन उस टोले में एकदम अलग से दिखता था. साफ और पवित्र. गोबर से लीपा अंगना. मिट्टी की दीवारों पर ही उजला चूना पुता हुआ. सामने हरसिंगार का लंबा पेड़. चिरमिरा के अलावा संझा फूल, आंगन के बगल-बगल. फिर सुर्ख लाल अड़हूल के कई पेड़ थे. और इन सभी के बीच हल्के नीले रंग का फूल होता अपराजिता का. अपराजिता फूल की लताएं अड़हूल और कनेल के बीच लगी होती. गजब का खूबसूरत छोटा-सा फूल. वही बगल की क्यारियों में ढेर सारे गेंदा फूल के पौधे. कई बार तो गांव का चोर बिन्नू की फुलवारी से फूल चोरी कर ले जाता. पूरी फुलवारी सूनी हो जाती. जाते-जाते गेंदे लदे कई पौधों को मसल जाता. लेकिन बिन्नू सुबह फिर से उसी मनोयोग से अपनी फुलवारी को संवारने में लग जाता, जैसे कि रात में कुछ हुआ नहीं है. कई बार बड़घरी में अपने मालिक से शिकायत भी करता. मालिक कहते–'क्या करोगे बिन्नू, गांव में अब चोर-लुक्कड़ बढ़ रहे हैं. अच्छी चीजें इन लुक्कड़ों को सुहाती नहीं है, बस नोच डालते हैं. लेकिन मिटाने वाला से बनाने वाला हर वक्त बड़ा होता है. अगर कुछ पता चले कि कौन ऐसा कर रहा है तो बताना. अभी भी ऐसे लुक्कड़ों को समेटने की ताकत रखते हैं. लेकिन वह लुक्कड़ शायद कभी पकड़ में नहीं आया. बिन्नू ने अपने घर और फुलवारी की तरह अपने परिवार को भी सजाया था. बिन्नू का बेटा विलक्षण. नाम विलक्षण और पढ़ने में भी विलक्षण. बिन्नू ने हर चोट सही. हर जख्म को गले लगाया लेकिन विलक्षण को पढ़ाया. उस स्थिति में भी जब विलक्षण को क्लास में सबसे अलग बैठा दिया जाता था. तोंद पर हाथ फेरते और अपनी शिखा को पेंडुलम की तरह हिलाते मास्टर साहब कहते–अरे बिन्ना का बेटा तो पढ़ने में कमाल है. क्या रे विलक्षणा, साहेब बनेगा क्या.' कहते-कहते उनकी एक चीख जैसी हंसी निकलती और दस दिशाओं को गुंजित करती. विलक्षण जब अपने मासूम शब्दों में बिन्ना को यह वाकया बताता तो बिन्ना को लगता जैसे किसी ने आरी मशीन पर उसका कलेजा रखकर दो फांक कर दिया हो.

एक दिन समय देखकर मालिक का पैर पकड़ लिया बिन्ना ने–हुजूर, पुश्तों ने आपके परिवार की सेवा की है. हम आपसे कुछ मांगने लायक हैं नहीं. लेकिन हुजूर, हम चाहते हैं विलक्षणा पढ़-लिख जाए. यहां गांव में तो बड़ी विकट स्थिति है. संयोग था कि मालिक बेटा चंद्रप्रकाश दिल्ली से गांव आया था. वह दिल्ली के किसी बड़े विश्वविद्यालय में पढ़ाई करता था. मालिक से पहले चंद्रप्रकाश ने ही कहा–'अरे बिन्नू काका, यह तो आपका हक है. बच्चों को तो पढ़ाना ही चाहिए. सरकार की कई योजनाएं हैं. विलक्षणा को शहर में रहने की सुविधा भी मिलेगी और पढ़ेगा भी. मैं आपको सब कुछ पता करके बताता हूं.' बिन्नू तो चंद्रप्रकाश को आशीषते चला गया, लेकिन मालिक ने चंद्रप्रकाश को टेढ़ी नजर से देखा. क्या फालतू के काम में लगे हो, अपनी पढ़ाई पर ध्यान दो–मालिक के स्वर में तल्खी थी. चंद्रप्रकाश ने समझाने के लिहाज से कहा–'आप क्या समझते हैं, हम नहीं बताएंगे तो उसे पता नहीं चलेगा. जमाना आपके समय से काफी आगे निकल गया है. अभी के समय से कदमताल कीजिए. हमें उसकी मदद करने से एक और क्रेडिट मिलेगा. सच ही तो उसने पूरे जीवन इस परिवार की सेवा की है. कहीं ऐसा न हो कि आपकी उदासीनता बिन्नू काका के दिल में भी एक खटास पैदा कर दे. सोचिए जरा, चार दिन बिन्नू काका बीमार हो जाते हैं तो

आप परेशान हो जाते हैं. स्थायी खटास हो जाए तो क्या होगा.' चंद्रप्रकाश ने जो कहा, सो किया. बिन्नू पढ़ाई के लिए शहर चला गया. होस्टल, पढ़ाई, रहना-खाना फ्री. सरकारी योजना थी, विलक्षण को उसका लाभ मिला. उस वक्त भी गांव में चर्चा हुई थी. 'देखो, सरकार ने इन लोगों के लिए कितनी सुविधाएं दे रखी हैं. एक हमारे बच्चे टौव्वाते रहते हैं. मौज तो भाई इन्हीं लोगों की है.' चर्चा यहीं खत्म नहीं हुई. वक्त बीता. विलक्षण ने इंजीनियरिंग की पढ़ाई पूरी. कैसे की, किन मुश्किलों का सामना किया, यह अलग कहानी है. लेकिन विलक्षण इंजीनियर बन गया तो हर किसी की जुबान पर यह था गांव में. चर्चा थी—तरह-तरह की प्रतिक्रियाएं थी. अरे रिजर्वेशन पर रिजर्वेशन तो इंजीनियर क्या आइएएस भी बन सकता था. कोई कह रहा था—उसी टोले का और बच्चा क्यों नहीं बन गया इंजीनियर. क्या उसके लिए रिजर्वेशन नहीं था. अरे धन्य कहो उस बिन्नू को. पेट काट कर बेटे को पढ़ाया. सब कुछ बेच दिया. गिड़गिड़ाया, रोया. लेकिन बेटे की पढ़ाई नहीं छूटने दी. आसान होता है क्या, उस टोले का कोई बच्चा इंजीनियर बन जाए. जान लगा दी लेकिन इतिहास बना दिया. अब जो मुंह में आए बोलो, कौन रोकेगा. लेकिन बिन्नू ने जो किया वह कमाल है. एकदम जादू की तरह. चर्चाएं चलती रही. बिन्नू के बेटे की किसी अच्छी कंपनी में नौकरी भी लग गई. वह भी दिल्ली में रहने लगा. लोग यह पता लगा रहे थे कि उसकी सरकारी नौकरी है कि प्राइवेट. इसमें भी तरह-तरह की बात. गांव की चौपाल पर कई दिनों तक यह चर्चा होती रही. रामचंद्र खैनी पीटते कहता—'अरे खूब माल कमा रहा है बिन्नू का बेटा. सरकारी या प्राइवेट से क्या मतलब है. गांव के पांच-दस युवक को ले जाकर वहां काम पर भी लगा दिया है.' कोई कहता—'सरकारी में नहीं हो पाया होगा इसलिए प्राइवेट में चला गया होगा.'

जितना मुंह, उतनी बात.

'विलक्षण तुम ऐसी कोशिश कर रहे हो, जिसका परिणाम पता नहीं कौन-सा विस्फोटक रूप ले. सदियों पुराना चलन जो पुरवारी और पछियारी टोला के लोगों के अहंकार से जुड़ा है, उस पर चोट पड़ेगी. उस चोट के बाद उठने वाली तिलमिलाहट का अंदाज नहीं है तुमको. महानगर के हिसाब से गांव में आकर नहीं सोचा जा सकता है. गांव अभी भी गांव हैं. यहां का अपना कुछ चलन है. इस चलन को तोड़ना बहुत मुश्किल होता है.' चंद्रप्रकाश फोन पर विलक्षण को समझा रहा था. दोनों में देर तक फोन पर बात हुई. विलक्षण ने कहा—'चंद्रप्रकाश दा आप भी तो दिल्ली में रहते हैं. जब भी जरूरत हुई आपने हमारी मदद की. हम पूरी उम्र आपके एहसानमंद हैं और रहेंगे भी. बस एक चाह है—बाबूजी के लिए. इसमें भी आपकी ओर से थोड़ा प्रयास हो जाए तो शायद कुछ हो जाए. आप गांव आकर मेरी मदद कीजिए, यह विनती है आपसे.' यह संयोग ही था कि पढ़ाई-लिखाई के बाद चंद्रप्रकाश की सरकारी नौकरी दिल्ली में ही हो गई थी. विलक्षण और चंद्रप्रकाश में अक्सर मुलाकात भी होती थी. शायद अपनी कुछ अलग सोच की वजह से चंद्रप्रकाश गांव में बहुत फिट नहीं बैठता था क्योंकि बड़घरी का लड़का गांव आने पर विलक्षण के टोले में जाकर कभी तो कभी मियां टोली में बैठ जाता. सबका हाल चाल पूछता. बाहर की नई जानकारियों के बारे में बताता और कई बार तो अपने स्तर की मदद भी करता. पूरवारी-पछियारी टोला के लोगों को यह बात बड़ी नागवार गुजरती. बड़घरी का लड़का जाकर मियां टोली में बैठे, सीमांत टोली में बैठे तो लोग तो बोलेंगे ही. लेकिन यहां जितनी आलोचना होती, चंद्रप्रकाश उन टोलों में उतना ही लोकप्रिय था. इतना ही नहीं पुरवारी-पछियारी टोली के कुछ नवतुरिया युवक भी उसके बेहद अजीज थे.

तमाम विकास और आधुनिकताओं के बाद भी कुछ बात है जो गांव में ही हो सकती है. मतलब गांव की अपनी सुगंध है. यहां तरह-तरह की बातें हैं. यहां पर्सनल कुछ नहीं है. लोगों की सबसे पर्सनल बातों पर सबसे ज्यादा सामूहिक चर्चा होती है. अगर कोई उलझन भरा मसला हो तो उस पर एक चुप्पी रहेगी. अचानक उसी चुप्पी पर कोई शोर भी मच जाएगा. लोग सम भाव से किसी की प्रशंसा या निंदा करते हैं. और भी कई खासियत है. नाम भी खासपुर ही है. दरअसल रासो बाबू अपने गांव के बारे में किसी बाहर से आए मेहमान को बता रहे थे. रासोबाबू का पूरा नाम—रासबिहारी कुंवर. गांव में दबदबा है. जानकारी से भरे और बात करने की कला में प्रवीण. किसी भी विषय पर साधिकारपूर्वक बात कर सकते हैं. रासो बाबू की बात पर खैनी पीटते रामचंद्र ने कहा—'एकदम सही बात, दादा. अपना गांव तो एकदम अलग और खास है. अब बगल के गांव में देखिए गोली-बंदूक, मारपीट आए दिन होते रहता है. अनहोनी, असुरक्षा की आशंका लगी रहती है. लेकिन यहां तो शांति है. लाख विरोध हो, गांव में बम-गोली निकलते हम लोगों ने अपने होश से आज तक नहीं देखा है.' मेहमान बड़ी

दिलचस्पी से इन बातों को सुन रहे थे. मेहमान थोड़ा और फैलकर बैठ गए. कंधे पर रखा गमछा उतारकर अपनी रोबदार मूंछों को सहलाया. फिर आधे उड़ गए बाल वाले सिर पर हाथ फेरते हुए बोले–'आप ठीक कह रहे हैं. किसी-किसी गांव का तो माहौल बहुते खराब हो गया है. कब किसका मर्डर तक हो जाएगा, कहना मुश्किल है. कौन किसका दुश्मन है और किसके लिए दांव लगा कर बैठा है, नहीं कह सकते. हमारे गांव का प्राथमिक स्कूल तो शाम होते-होते नशेड़ियों का अड्डा बन जाता है. तमाम छंटे, बाछ लोग जुटते हैं वहां. आपका गांव देख कर मन ललच जाता है. साविक-संस्कारवान लोगों का गांव रहा है आपका. आसपास के 100 गांवों में यहां की प्रतिष्ठा पिछले चार-पांच पुश्तों से रही है. हमारा तो खानदानी रिश्ता रहा है इस गांव से. हमारे बाबा बताते थे–बड़े जमींदारों का यह गांव था. बहुत ज्यादा दिनों की बात नहीं है. 100 साल पहले चिंता बाबू के दरवाजे पर 30 हाथी बंधे रहते थे. सिर्फ महावत रखने के लिए उन्होंने एक बस्ती बसा दी थी. इलाके का नामी दुर्वापुर हाईस्कूल भी तो उन्होंने ही बनवाया था. सदियों से सिंचित संस्कार का असर तो मिट्टी में रहेगा ही रासोबाबू. उन लोगों के सत्कर्मों का असर है–आपके गांव में संस्कार बचे हैं. बड़े-छोटे का लिहाज है. और सच कहे रासो बाबू, कई गांवों में तो रहना मुश्किल हो गया है. हालत बिगड़ती ही जा रही है. छोटी जात के लोगों का मन इतना बढ़ रहा है कि इज्जत बचाना मुश्किल हो गया है.'

विलक्षण से बातचीत के बाद चंद्रप्रकाश दिल्ली से गांव पहुंच गया था. चंद्रप्रकाश ने पहले तो गांव के कुछ अपने हमजोली लड़कों से बात की. चंद्रप्रकाश ने कहा–'देखो, विलक्षण चाहता है बिन्नू के श्राद्ध भोज में पूरे गांव के लोगों को खिलाया जाए. मुझे लगता है कि हम लोगों को विलक्षण की मदद करनी चाहिए. नई बयार बहेगी तो विरोध के स्वर भी फूटेंगे. हम इन सब चीजों को कैसे संभाल पाएंगे, इस पर विचार करना है.' चंद्रप्रकाश ने अपने साथियों के बीच ही हालांकि यह बात कही थी. लेकिन चंद्रप्रकाश के बोलते ही लगा जैसे सभी ने मौनी अमावस्या का व्रत कर लिया हो. बगड़ी और जयकिशोर ने काफी देर बाद कहा–'जो लोग हमारे भोज के फेंके जूठे पत्तलों का बचा खाना खाते थे, उनके यहां पूरबारी और पछियारी टोला के लोग जाकर भोज खाएंगे. यह नहीं हो पाएगा चंद्रप्रकाश दा. सूरज पूरब से पश्चिम उग जाए. विधाता वाम हो जाए. लेकिन यह नहीं हो पाएगा.' नटवरी ने सोचनीय मुद्रा में कहा–'चंद्रप्रकाश दा हम मानते हैं कि जमाना बदल रहा है लेकिन गंगा तो उल्टी नहीं बहने लगेगी ना. समाज की परंपरा और मान्यताओं को बदलने में तो समय लगता है. चंद्रप्रकाश ने कहा–मैं जानता हूं, कठिन है. इसलिए तो तुम लोगों से पहले बात की. देखो बिन्नू या विलक्षण ने भी इस समाज के निर्माण में योगदान दिया है. अगर वह समाज को भोज खिलाना चाहता है तो बुरा क्या है.' बगड़ी ने कहा–'श्रद्धा नहीं होती है. उबकाई आने लगती है. उस टोले के बीच में खाने की कल्पना के साथ ही लगता है कि जी मितलाने लगता है. वहां बैठकर पानी पीना मुश्किल है तो खाना कैसे खाएंगे. उल्टी हो जाएगी. विलक्षण ने दो पैसा कमाया है तो कह दीजिए जाकर दिल्ली में ही भोज कर दे. वहां कोई इतना सौ-शून्य का फर्क नहीं देखता है.' चंद्रप्रकाश ने कहा–'इस पर सभी लोग विचार करो, सीधे नकार देने से तो नहीं चलेगा. देखते हैं, क्या हो सकता है.'

चंद्रप्रकाश को पता था ऐसे मौके के लिए रासो बाबू बड़े उपयोगी आदमी हैं. व्यावहारिक आदमी हैं और प्रैक्टिकल रास्ता सुझाते हैं. सो चंद्रप्रकाश ने रासो बाबू से इस बारे में चर्चा की. रासो बाबू ने सब बात सुन कर कहा–'आसान तो नहीं है, चंद्रप्रकाश लेकिन असंभव भी नहीं है. यह सच है आज के दौर में इस तरह की नई हवा बही है. हाशिए के लोग समाज की मुख्यधारा में स्थापित होना चाहते हैं. इसके कई तरीके रोज तुम अखबारों में देखते सुनते हो. एक तरीका यह भी है. और अपना खासपुर इसलिए तो खास है कि नए तरीकों को लेकर इस गांव ने प्रयोग करना नहीं छोड़ा है. तुम लोग नए खून के हो तो जाहिर इस बदलाव की पहल में लगाए जोर का परिणाम भी मिल जाए. लेकिन जैसा कि मैंने पहले ही कहा–यह आसान नहीं है.'

अब गांव में दो धाराएं थीं. एक क्षीण कमजोर-सी. एक प्रबल और वेग और मद से भरी. चर्चाएं शुरू हो चुकी थीं. अपने-अपने ढंग से टिप्पणी और विवेचना. सुनते हैं विलक्षणा, पूरे गांव को भोज खिला रहा है. यह तो घोर कलयुग है भाई. कौन जाएगा उसके यहां खाने. क्या करोगे, छोटका जात दू पैसा कमा लेता है तो बर्दाश्ते नहीं कर पाता है. नहीं हो बात सिर्फ छोटका जात का नहीं है. अरे गांव का नवतुरिया छौड़ा सब भी मिलकर इसमें साथ दे रहा है. सुनते हैं बड़घरी का चंद्रप्रकाश भी उनलोगों को साथ है. तभी दूसरे ने कमान संभाली–चंद्रप्रकाश क्या है. अरे सब रासो बाबू का किया धरा है. ऐसे अनर्थकारी काम में वह सबसे आगे रहते हैं. पंडित टोला में अलग खलबली मची है. जात-धर्म सब नाश करवाकर मानेगा रासो. क्या लोगों के घर में भुखमरी है जो विलक्षणा के यहां भोज खाने जाएगा. इलाके के नामी पंडित रमाकांत बाबू हुंकार भर रहे हैं, अब तो गांव में रहना मुश्किल हो गया है. छी....छी...दूसरे गांव के यजमान आएंगे तो क्या जवाब देंगे हम.' उनकी शिखा में जैसे तीनों लोक का कोप भर गया था. उसी कोप प्रलय में रासो बाबू से लेकर चंद्रप्रकाश के सात पुश्तों की अनटोल्ड स्टोरी का लाइव बखान, पांडित्यपूर्ण गाली के साथ बिना लाउडस्पीकर के लाउडस्पीकर जैसी आवाज में कर रहे थे.

दूसरी धारा भी अपनी मुहिम में लगी थी. इस प्रकरण में अब खुलकर रासो बाबू और चंद्रप्रकाश सामने आ गए थे. गांव के चंद लोग जो उनके विचार से सहमत हो

सकते थे, वे उनसे मिल रहे थे. विलक्षण ने गांव के मुखिया से भेंट की थी. मुखिया युवा और बदलते जमाने को समझने वाला था. मुखिया ने कहा—'देखो, मैं तुम्हारे भाव का सम्मान करता हूं. लेकिन गांव के लोग सहमत नहीं हुए तो अधर में अटक जाओगे. फिर निगलते-उगलते न बनेगा. और आखिर तुम इस तरह का भोज करना क्यों चाहते हो यहां? पूरे गांव के सभी वर्णों के लोगों को आखिर खिलाने के विचार तुम्हारे मन में कैसे आया विलक्षण?' मुखिया ने एक लंबी सांस लेते हुए विलक्षण की ओर घूमकर पूछा. विलक्षण के चेहरे पर एक गंभीरता आ गई. वह गंभीरता उसकी आवाज में भी सुनाई दे रही थी—'यह पूरा समाज हमारा है, कैसे महसूस होगा. हम लोगों को लगता है कि हम इस समाज में इस तरह से हैं जैसे शरीर पर गोल चकत्ते की तरह उग आए दाद-खाज-खुजली या घाव हों. हम इस समाज के अंग हैं लेकिन हैं हम कहां. हमारी जगह कहां है इस समाज में. हम बस अपने लिए थोड़ी सी जगह चाहते हैं. इस समाज में हमें भी बैठने-सोने लायक नहीं लेकिन खड़े होने लायक तो जगह मिले. अभी तो हम पूरे दृश्य-परिदृश्य से बाहर हैं. कहीं दिखते ही नहीं. समाज में अपनी जगह तलाशने का एक मौका-एक अवसर बाबूजी के भोज के जरिए शायद मुझे मिल जाए. समाज में वह जगह जो हम लोगों के लिए न कभी थी, न अभी है. मुखिया ने अपने होंठों को गोल कर लिया था. चंद्रप्रकाश और रासो बाबू मुखिया के घर के बाहर फैले दूर-दूर तक हरे भरे खेत को चुपचाप देख रहे थे.' चुप्पी तोड़ते हुए मुखिया ने कहा—'हालांकि चंद्रप्रकाश और रासो बाबू भी इसके लिए प्रयास कर रहे हैं. लेकिन सिर्फ उनके या हम सभी के चाहने से तो नहीं होगा. एक सर्वसम्मति इस पर बने गांव वालों के साथ. सभी वर्ण के लोगों की एक बैठक बुलाकर बात कर लेते हैं. साथ ही यह भोज कैसे हो इसका प्रारूप भी तय हो जाए. समय ज्यादा बचा नहीं है. इसलिए कल ही बैठक करनी पड़ेगी. तो ढोलाही करके सबको सूचना भिजवा देते हैं. सभी लोग शाम चार बजे तक दुर्गास्थान पहुंच जाएं. वहीं बैठक कर सभी लोगों के साथ बात-विचार हो जाएगा. गांव के लोगों से ही साफ-साफ पूछ लेंगे. दूसरे गांव की बात हम नहीं कहेंगे, लेकिन हमारा गांव इतना तो आगे है ही कि इन मुद्दों पर हम बात कर सकें.' विलक्षण के टोले के कुछ युवकों ने हालांकि इसका विरोध भी किया. उनका कहना था—'पूरवारी पछियारी टोला के लोग कौन-सा मीटिंग करके भोज करते हैं. एक तो भोज करेंगे ऊपर से अपनी बिरादरी का मान-मर्दन होगा. ऐसा भोज करने का क्या फायदा. हम लोग जैसा करते आए थे, वैसा ही करना चाहिए.' विलक्षण ने सबको शांत कराते हुए समझाया—'यह एक परंपरा, एक रिवाज को बदलने का सवाल है. यह मुश्किल है. इसमें इस तरह की परेशानी होगी. लेकिन सामाजिक मान्यता पाने और बदलने का यह भी एक रास्ता हो सकता है. इसलिए हमलोगों को प्रयास तो करना ही चाहिए.'

गांव में बिन्नू की तेरहवीं के दूसरे दिन ही पंडित रमाकांत बाबू के बड़े भाई उमाकांत बाबू पहुंचे. उमाकांत बाबू बनारस में रहते हैं. इलाके में काशी के पंडित के नाम से विख्यात उमाकांत बाबू खास निमंत्रण व आयोजन पर ही मोटी फीस के साथ गांव बुलाए जाते हैं. बड़घरी से लेकर तीन खूंटी के जमींदार परिवारों और आसपास के कई गांवों में उनके पांडित्य का दबदबा है.

दुर्गास्थान में मीटिंग हुई. मीटिंग में अच्छी- खासी भीड़ थी. विलक्षण, मुखिया जी, चंद्रप्रकाश, रासोबाबू, पंडित रमाकांत बाबू सभी लोग आए. तीन घंटे के मैराथन मंथन के बाद आखिर भोज पर अधिकतर लोगों की सहमति बन गई. हालांकि कुछ लोग विरोध में ही रहे. उनसे कहा गया—'जो सहमत नहीं हैं वह भोज खाने नहीं आएं.' लेकिन ऐसे लोगों की संख्या काफी कम थी. विलक्षण ने दिल खोलकर खर्च किया. लाखों रुपए खर्च हुए. शानदार भोज हुआ. सतमेर मिठाई (सात तरह का मिष्टान्न) और कच्चा-पक्का रसगुल्ला ढल (मनमाना) अलग से. लोगों ने छककर खाया. शाम छह बजे से जो भोज का पंगत शुरू हुआ तो रात दो बजे तक चलता रहा. लोगों ने खाया भी और परोसन लेकर घर भी गए. थै-थै हो गया. क्या गजब का भोज किया विलक्षणा ने. वाह रे, विलक्षणा तुमने तो कमाल कर दिया—खाने के बाद परम तृप्त होकर उठे पंडित रमाकांत बाबू ने अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए एक लंबी डकार के बाद कहा.

भोज होना सहज नहीं था लेकिन मुखिया जी ने अपनी बुद्धि-कौशल का पूरा उपयोग किया. बैठक में सभी असहमतों से पूछा गया—'आखिर विरोध क्यों?' लोगों ने परंपरा की दुहाई दी. अपनी-अपनी असहमति गिनाई. अंत में मुखिया जी के निदान ने सभी को निरुत्तर कर दिया. काफी विचार-विमर्श के बाद मुखिया ने भोज के अंतिम प्रारूप की घोषणा की. मुखिया ने कहा—'भोज विलक्षण के दरवाजे पर नहीं होकर चंद्रप्रकाश के घर से सटे बागीचे में होगा. वहीं पंडाल लगाया जाएगा. भोज का खाना बनाने वाला रसोइया सिर्फ ब्राह्मण टोली के होंगे. बारिक (खाना परोसने वाले) पूरवारी व पछियारी टोला के दस सुलझे युवक होंगे जो इन टोलों के भोज में भी बखूबी बारिक का काम करते हैं. विलक्षण के टोले का कोई आदमी यहां होने वाले भोज में शामिल नहीं हो पाएगा. अपने टोले में विलक्षण अलग भोज की व्यवस्था वहां के अनुरूप करेगा. पानी बोतलबंद लाया जाएगा. हालांकि रासो बाबू और चंद्रप्रकाश ने इस प्रारूप में होने वाले भोज का मीटिंग में ही विरोध किया था लेकिन विलक्षण ने सहमति दे दी. तो उस दिन दो जगह बिन्नू का श्राद्ध भोज हुआ. एक चंद्रप्रकाश के बागीचे में और दूसरा विलक्षण के टोले में. विलक्षण के टोले के युवक भोज खाकर बड़घरी के पास होने वाले भोज के

पास भी मंडरा रहे थे.' तो पूरबारी-पछियारी टोला के कुछ मनबढ़ू लड़कों ने उन लोगों से गाली-गलौज तक की—'यहां क्या मंडरा रहे हो, निकलो यहां से. यहां सब कुछ भ्रष्ट करोगे क्या?'

पक्का पता तो नहीं लेकिन कहते हैं कि भोज की सुबह विलक्षण के टोले में भी बैठक हुई. इसमें विलक्षण को उसकी उपस्थिति में उसके अपने समाज ने ही उसे बहिष्कृत कर दिया. घंटू मड़र, झुनक लाल, तनुक सभी उस बैठक में थे. लेकिन कोई कुछ खुलकर नहीं बोल रहा है. वह तो उस दिन रसलाल ने चारा की कुट्टी काटते-काटते बात ही बात में बक दिया कि विलक्षणा अब हमारे समाज का थोड़े ही है. पूरबारी-पछियारी टोला में जाकर बाप के श्राद्ध का भोज करता है. दो पैसा क्या कमा लिया—एकदम बौव्वा गया है. अरे, क्या मिला वहां भोज करके उसे. कहता था—सामाजिक मान्यता का सवाल है. लेकिन वहां तो तुम्हारा कुछ था ही नहीं—न तुम्हारे सगे संबंधी, तुम्हारे अड़ोस-पड़ोस के लोग. न तुम्हारे विचार की कोई कद्र. सोचो तुम्हारे भोज में तुमको ही नहीं घुसने दे रहे थे. पैसा तुम्हारा और सब कुछ उन लोगों का. क्या हो गया इससे—हमारे लोगों का मान प्रतिष्ठा बढ़ गया क्या. उल्टे हमारा मजाक उड़ा. जो खुद से अपने समाज का मजाक उड़वाए तो उससे क्या मोह. विलक्षणा राम-खुदा दोनों के चक्कर में पड़ गया. भले दिल्ली में रहता है. अब वही बस-रह जाए तो बेहतर है. क्या करेगा गांव आकर. फिर हम लोगों की हंसी करवाएगा. यह कहते हुए रसलाल के चेहरे पर दर्द भरी हंसी उभर गई.

इधर गांव में बिन्नू की तेरहवीं के दूसरे दिन ही पंडित रमाकांत बाबू के बड़े भाई उमाकांत बाबू पहुंचे. उमाकांत बाबू बनारस में रहते हैं. इलाके में काशी के पंडित के नाम से विख्यात उमाकांत बाबू खास निमंत्रण व आयोजन पर ही मोटी फीस के साथ गांव बुलाए जाते हैं. बड़घरी से लेकर तीन खूंटी के जमींदार परिवारों और आसपास के कई गांवों में उनके पांडित्य का दबदबा है. संस्कृत के श्लोक व वेद ऋचाएं अक्सर बातचीत में उनके मुंह अनायास निकलती रहती हैं. उनका अचानक गांव पहुंचना मामूली बात नहीं थी. एक तरफ बिन्नू के श्राद्धभोज की चर्चा थी तो दूसरी तरफ पंडित उमाकांत बाबू के गांव आने की. उमाकांत बाबू ने घर पहुंचने के बाद सीधे बड़घरी में चंद्रप्रकाश के पिताजी के यहां खबर भिजवाई आपसे मिलना है. चंद्रप्रकाश के पिताजी बेहद अनुभवी व्यक्ति थे. चंद्रप्रकाश तो दिल्ली वापस जा चुका था. बाकी गांव-समाज में उन्हें ही रहना था. यहां का ऊंच-नीच उन्हें ही संभालना था. वह समझ रहे थे हो न हो मामला कुछ गंभीर हो सकता है. उन्होंने पंडित उमाकांत बाबू के लिए तुरंत मोटर साइकिल भिजवाई. अपने घर के बाहर लॉन में गद्देदार मात्र दो ही कुर्सियां लगवाई. उमाकांत बाबू चंद्रप्रकाश के घर पहुंचे तो उनकी आंख जैसे जल रही थी. चंद्रप्रकाश के पिताजी ने बेहद शिष्ट होकर प्रणाम किया. फिर बैठने का अनुरोध किया. लेकिन उमाकांत बाबू के आंखों की लाली कम नहीं हुई. उजली झक धोती, बदन पर सिर्फ उजला गमछा पहने जनेऊ को बार-बार अंगुलियों में फंसाते-निकालते त्रिपुंडधारी उमाकांत बाबू के हाथ कांप रहे थे. उमाकांत बाबू ने थोड़े कड़क स्वर में पूछा—बड़घरी के होकर भी आपने ऐसा किया. आपसे यह उम्मीद बिल्कुल नहीं थी. चंद्रप्रकाश के पिताजी को कोई जवाब देते नहीं बन रहा था. उमाकांत बाबू ने क्रोध में कांपते स्वर को दबाते हुए कहा—'मति मारी गई थी क्या सभी लोगों की जो बिन्नू के श्राद्ध का अन्न खाया. और तो और रमाकांत ने भी खाया. घोर अनर्थ-घोर अनर्थ, सब नष्ट. सब भ्रष्ट. एक सांझ भोज खाने के लिए इतना अनर्थकारी कृत्य. शिव शिव शिव शिव. क्या कहें, किसको कहें, क्या मुंह दिखाएं. जमाना बदल रहा है तो कल को रिश्तेदारी शुरू कर दें इन लोगों के साथ. शंभु-शंभु...' चंद्रप्रकाश के पिताजी ने हिम्मत जुटाते हुए कहा—पंडित जी कुछ नवतुरिया लड़कों की लड़कभुरभुरि में ऐसा हो गया. हमलोगों ने विरोध तो किया ही था लेकिन उन लोगों ने जोड़तंगड़ कर बिन्ना के श्राद्ध का भोज सभी को खिला दिया. अब गलती तो हो ही गई है पंडित जी. अचानक उमाकांत बाबू कड़के—प्रायश्चित करना होगा. सभी को प्रायश्चित करना होगा. इस टोले के जितने भी लोगों ने बिन्ना का श्राद्ध भोज खाया है, सभी का शुद्धीकरण करना होगा. शास्त्र में इसका विधान है. विधि सम्मत विधान है. चंद्रप्रकाश के पिताजी चुप थे.

उस दिन सुबह से ही गांव में गहमा-गहमी थी. लगभग 10 ट्रैक्टर में भरकर लोग गंगा स्नान के लिए प्रस्थान कर रहे थे. जिस तरह भोज के लिए बैठक के लिए ढोलाही हुई थी उसी तरह से पूर्वी और पछियारी टोले में गंगा स्नान को लेकर ढोलाही कराई गई थी. पांच युवकों की एक टीम खास तौर पर बनाई गई थी सिर्फ यह देखने के लिए कोई छूट न जाए इन टोलों में जिसने भी बिन्नू के श्राद्ध का भोज खाया था. ट्रैक्टर जब रवाना हुआ तो वृद्ध सुखन बाबू ने कहा—'बेकार खिला दिया बिन्ना का भोज. सबका धर्म भ्रष्ट कर दिया. दो पैसा हो गया विलक्षणा को तो यहां नंगा नाच कर दिया गांव में आकर.' मनोहरा बोला—'खाते समय तो बाबा सबको अच्छे लग रहा था. सब सोच रहा था पैसा विलक्षणा दे रहा है तो धुइया देखने में क्या हर्ज है. क्या जाता है अपना. अब देखो क्या हो रहा है. पंडित उमाकांत बाबू, चंद्रप्रकाश के पिताजी अलग से चार चक्का गाड़ी से गंगा के तट पर पहुंचे. गंगातट पर सैकड़ों लोग एक साथ गंगास्नान करने के बाद खड़े हैं एक साथ कतार में. हाथ में गंगाजल और कुश है. प्रकांड पंडित उमाकांत सभी का शुद्धीकरण करवा रहे हैं.' चारों तरफ वातावरण में सैकड़ों कंठ से निकले स्वर पंडित उमाकांत की आवाज के बाद गूंज रहे हैं—ऊं अपवित्रः पवित्रो वा... चंद्रप्रकाश के पिताजी भी मनोयोग से मंत्रोच्चारण कर रहे हैं. उन्होंने ही सभी लोगों को शुद्धीकरण के बाद घाट पर खिलाने की भी व्यवस्था की है.

❐

अनावश्यक छिद्रान्वेषण

शिवेंद्र कुमार / गिरिजेश कुमार

बीच बहस में

सबसे पहले समीक्षक शंकरकुमार झा जी का बहुत-बहुत धन्यवाद और आभार कि आपने हमारी पुस्तक *रागगीरी* को इतने मन से पढ़ा जिसकी समीक्षा हंस के अप्रैल 2020 में प्रकाशित हुई है. आपने इस पुस्तक को 'अभिनव प्रयास' माना और इसे 'युवा वर्ग को शास्त्रीय संगीत से जोड़ने की दिशा में उपयोगी' बताया. 'रागगीरी' को लिखने का मकसद भी यही रहा है और आपकी इस बात से पुष्ट होता है कि हम अपने छोटे से प्रयास में सफल रहे हैं.

किसी पुस्तक में 'त्रुटियां' निकालने के लिए विषय के गहन ज्ञान के साथ ही पुस्तक का बारीक अध्ययन भी जरूरी है.

ऐसे समय में जबकि कई बार समीक्षक पुस्तक को सरसरी तौर पर देखकर अपनी टिप्पणी दे देते हैं या फिर लेखक से परिचयवश तारीफ कर देते हैं, आपने इतनी गंभीरता से पुस्तक की एक-एक पंक्ति को पढ़ा और फिर अपनी बात कही इसके लिए भी निश्चित तौर पर आप साधुवाद के पात्र हैं.

आपकी टिप्पणी में कुछ 'परंतु' हैं. उन पर हम पूरी विनम्रता से अपना पक्ष रखना चाहेंगे.

किताब का हर किस्सा गीत, संगीत, गीतकार, संगीतकार के बारे में ही है, और हर किस्सा एक ऐसे अध्याय के तहत ही आता है जो किसी राग के नाम पर है. इसलिए किसी एक हिस्से को उठाकर ये कह देना कि ज्यादातर किस्सों का शास्त्रीय राग से लेना-देना नहीं है ये समीक्षक महोदय की ज्यादती लगती है. इतना ही नहीं, समीक्षा के बहाने किताब में दिए किस्से के आगे अपना किस्सा जोड़ देना ये बताने की कोशिश लगती है कि 'इनसे ज्यादा तो मुझे पता है.' आपकी जानकारी का हम पूरा सम्मान करते हैं लेकिन आप भी मानेंगे कि ऐसे किस्से आसानी से उपलब्ध नहीं हैं, लिहाजा हम जितना जानते हैं हमने उतना लिखा. आप जो जानते हैं वो आप लिखें, लेकिन हमारी पुस्तक में वो लिखे जाने की उम्मीद करना ठीक नहीं लगता. 66 रागों पर काम करते वक्त आपने सिर्फ एक गाने के बनने के दो किस्सों का जिक्र करके इस बात को और पुख्ता ही किया है कि किस्से ढूंढना इतना आसान काम नहीं है.

अब बात गीतों और रागों की. इस पुस्तक में हमने 66 रागों के किस्से समेटने की कोशिश की है. अगर एक राग पर आधारित औसत 5 गीत भी मान लें तो पूरी पुस्तक में तकरीबन 330 गीतों की चर्चा होगी. इतने गीतों में से 5 गीत चुनना और उनके राग पर सवाल उठाना, इसके पीछे भी पर्याप्त प्रयास लगा होगा जिसके लिए हम आपकी सराहना करते हैं. बावजूद इसके आपकी टिप्पणियों में कुछ चूक हो गई लगती है. मिसाल के तौर पर :

'झूमती चली हवा' गीतराग सोहनी पर आधारित है और आपके हिसाब से हमने इसे मदमाध सारंग पर आधारित बताया है. जी नहीं. आपने ध्यान नहीं दिया कि हमने इस गीत को मधमाद सारंग पर आधारित नहीं बताया बल्कि संगीतकार एस. एन. त्रिपाठी के रचे गीतों के तौर पर इसका जिक्र किया है. पुस्तक में साफ-साफ लिखा है कि संगीतकार एस.एन. त्रिपाठी के बनाए एक और गाने का जिक्र किए बिना उनकी बात अधूरी रह जाएगी'. इसके बाद इस गाने की बात आती है. आगे यह भी लिखा है कि 'लौटते हैं मधमाद सारंग पर'. तो कहीं किसी कनफ्यूजन की गुंजाइश ही नहीं है. इतना ही नहीं, बल्कि अगर आप राग सोहनी वाला चैप्टर पढ़ेंगे तो उसमें 'झूमती चली हवा' का जिक्र किया गया है. यानी 'झूमती चली हवा' राग सोहनी पर आधारित है और हम भी ये बात जानते हैं. हमने लिखा भी यही है.

'टूटे हुए ख्वाबों ने' को हमने कौशिक कान्हड़ा पर आधारित बताया है, आपने कहा दरबारी और नट भैरवी. नट भैरवी जैसा कोई राग तो प्रायः सुनने में नहीं आता, आप शायद नट भैरव कहना चाहते हैं जो संपूर्ण-संपूर्ण जाति का राग है और जिसमें सिर्फ धैवत कोमल लगता है.

हमने पुस्तक की शुरुआत में ही कहा है कि फिल्मी या सुगम संगीत की रचनाएं आमतौर पर किसी राग के अनुशासन को, उसके वादी-संवादी, न्यास, स्वर संगतियों वगैरह को पूरी तरह निभा नहीं पातीं, और यही वजह है कि वो अपने आप में शास्त्रीय संगीत से अलग एक श्रेणी है. उससे राग का रिश्ता बिल्कुल पक्का वाला नहीं होता.

बहुत से राग भी आपस में मिलते-जुलते हैं, इसलिए भी किसी फिल्मी गीत को लेकर राग का पक्का दावा करने से बचना चाहिए. फिर भी, पंडित रामाश्रय झा की पुस्तक अभिनव गीतांजलि के अनुसार कौशिक कान्हड़ा का आरोह-अवरोह है

आरोह–नि सा ग म, ध नि सां

अवरोह–सां नि ध प म, (म) ग॑ रे ग म (सा) रे सा

'टूटे हुए ख्वाबों ने' अगर आप हारमोनियम या किसी दूसरे साज पर बजाकर देखें तो पाएंगे कि उपरोक्त स्वरों में पूरा गाना कवर हो जाता है. दरबारी और नट भैरव मिलाकर भी तकरीबन यही स्वर समुच्चय मिलता है. तो अगर गीत के स्वर मोटे तौर पर एक ही राग की सीमा में मिल जा रहे हैं तो दो रागों का नाम क्यों लेना? साथ ही, अगर कौशिक कान्हड़ा पर आधारित 'सौ बार जनम लेंगे' के बाद 'टूटे हुए ख्वाबों ने' गुनगुना कर देखें तो स्वरों के साम्य का स्वतः अनुभव हो जाएगा.

'तुम मिले, दिल खिले' पर आपने धानी का प्रभाव ज्यादा बताया है. आपकी बात सही है लेकिन सिर्फ मुखड़े के लिए. अंतरा (चंदा तुझे..) शुरू होते ही इसमें शुद्ध धैवत लग जाता है जो कि धानी में नहीं, बल्कि भीमपलासी में है. इसलिए हमारी समझ से इस गीत को भीमपलासी पर आधारित ही कहना चाहिए. वैसे भी, धानी और भीमपलासी बहुत ही मिलते-जुलते राग हैं. एक फिल्मी गाने पर भीमपलासी की जगह धानी का प्रभाव ज्यादा बताना छिद्रान्वेषण जैसा लगता है.

इस तरह छिद्रान्वेषण करने लगें तो आपने समीक्षा की शुरुआत में जिस गीत का उदाहरण दिया है उस पर भी सवाल उठेगा. आप जानते ही होंगे कि राग मेघ और राग मधमाद सारंग के स्वर करीब करीब एक जैसे हैं.

मोटे तौर पर अंतर यह है कि राग मेघ का चलन गंभीर है और मधमाद सारंग का अपेक्षाकृत चंचल.

ये कुछ वैसा ही अंतर है जैसा भूपाली-देशकार, मारवा-सोहनी, भैरव-रामकली या दरबारी-अड़ाना के बीच होता है. तो अगर सामान्य समझ से देखा जाए तो 'मुन्नी बदनाम हुई डार्लिंग तेरे लिए' जैसा 'डांस नंबर' अपेक्षाकृत चंचल राग मधमाद सारंग पर आधारित कहा जाना चाहिए, न कि गुरु गंभीर राग मेघ पर.

बहरहाल, आपने कहा–

'कौन आया मेरे मन के द्वारे' राग बागेश्री पर नहीं बल्कि रागेश्री पर आधारित है. आपकी बात प्रथम दृष्ट्या सही लगती है क्योंकि इस गाने के मुखड़े में कोमल गंधार की जगह शुद्ध गंधार लग रहा है. लेकिन आप ध्यान देंगे कि इस मुखड़े में ही पंचम भी लग रहा है जो कि रागेश्री में पूरी तरह वर्जित है, जबकि बागेश्री में पंचम की मौजूदगी है. इतना ही नहीं, अंतरा 'आंख न जाने, दिल पहचाने' आते-आते कोमल गंधार भी लग रहा है जो कि रागेश्री में वर्जित है और बागेश्री का एक प्रमुख स्वर है. यानी इतनी सख्ती से देखें तो इस गीत को रागेश्री पर आधारित कहना भी कठिन होगा.

कहने का तात्पर्य यह है और जैसा हमने पुस्तक में भी निवेदन किया है कि फिल्म संगीत मूलतः शास्त्रीयता के बंधनों से मुक्त होता है. कुछ गिने-चुने गीतों को छोड़ दिया जाए तो आमतौर पर गीत का स्वाद बढ़ाने के लिए संगीतकार कहीं-कहीं शास्त्रीय संगीत की मिठास उधार लेता है और फिर अपनी उड़ान पर निकल जाता है. इसलिए फिल्म संगीत में शास्त्रीय रागों के मिश्रण को इस तरह आवर्धक लेंस से देखने पर किसी नतीजे पर पहुंचना कई बार बहुत मुश्किल होता है.

आखिर में, आपने कहा, प्रसिद्ध भजन 'श्री रामचंद्र कृपालु भजमन' राग यमन कल्याण पर आधारित है, हमीर पर नहीं. बिलकुल सही बात है. दरअसल किताब फिल्मी गीतों पर है इसलिए पुस्तक में हमने 'श्री रामचंद्र कृपालु भजमन' के उस वर्जन की बात की है जिसे 1942 में आई फिल्म 'भरत मिलाप' में इस्तेमाल किया गया था. यह वर्जन राग हमीर में ही बना था. संदर्भ और सुनने के लिए लिंक निम्नलिखित है.

https://www.parrikar.org/hindustani/hameer/

https://www.parrikar.org/music/hameer/shriramchandra.mp3

लेकिन ये सच है कि 'श्री रामचंद्र कृपालु भजमन' का जो वर्जन प्रसिद्ध है वो यमन कल्याण में ही है. इसे पुस्तक में स्पष्ट करने की जरूरत है जो हम जरूर करेंगे. आपके समय और सुझावों के लिए बहुत धन्यवाद.

❒

संपर्क : मो. : 9811201849
ईमेल : raaggiri@gmail.com

हंस के एजेंट बनें

आपके शहर में भी हंस सुगमता से उपलब्ध हो इसके लिए आप हंस की एजेंसी प्राप्त कर सकते हैं.
वीपीपी द्वारा हंस (25 प्रतिशत छूट लेते हुए) मंगवाने के लिए अपना ऑर्डर अग्रिम भिजवाएं. डाकघर में प्रस्तुत करने के लिए ऑर्डर की यह प्रति अनिवार्य है.
ऑर्डर के लिए लिखें या संपर्क करें :

अक्षर प्रकाशन प्रा. लि.
2/36, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 23270377, 41050047
मो. : 9810786725, 9871809592
ईमेल : editorhans@gmail.com
वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

लघुकथा

दीवाली का बोनस

नीतीश कुमार

तापस और मुकेश खड़गपुर में एक स्टील प्लांट में काम करते थे. वे दोनों कांटा विभाग में कच्चे रशीदों की एंट्री किया करते थे.

तापस इससे पहले जमशेदपुर के एक स्टील प्लांट में काम किया करता था. वहां पर पिछले वर्ष मंदी की वजह से बहुत से कर्मचारियों की छंटनी कर दी गई थी.

उस कंपनी ने वित्तीय घाटा दिखाते हुए धीरे-धीरे कंपनी के उत्पादन को बंद कर दिया था, जिसकी वजह से उसे सरकार से लिए गए ऋण भी नहीं चुकाने पड़े थे.

कंपनी ने कच्चे-पक्के रशीदों पर कार्य करके काफी लाभ कमाया था, लेकिन कंपनी और सरकार की मिलीभगत से कंपनी धीरे-धीरे बंद हो गई.

खड़गपुर में तापस ने दस महीने पहले ही कंपनी ज्वाइन की थी. इस कंपनी के पास बड़े-बड़े कोल माइंस के भी लीज थे. यहीं पर उसकी मुकेश से भी अच्छी मित्रता हो गई थी.

दीवाली का त्यौहार आने वाला था. कंपनी के कर्मचारियों में दीवाली का अच्छा-खासा उत्साह था. सभी कर्मचारियों को इस बार दुर्गा-पूजा के समय बोनस नहीं मिला था. सभी को दीवाली से पहले बोनस देने की बात कही गई थी.

तापस और मुकेश भी दीवाली की विशेष तैयारी कर रहे थे. उन्हें दीवाली से पहले बोनस मिलने की उम्मीद थी. दोनों त्यौहार के समय कुछ दिनों के लिए अपने-अपने गांव जाना चाहते थे, इसलिए दोनों मिलकर पेंडिंग पड़े हुए कामों को शीघ्रता से निपटा रहे थे.

इनके विभाग में इनकम टैक्स वालों का रेड-एलर्ट जारी था. इनकम टैक्स वाले दो-तीन महीने में कंपनी पर रेड करते थे और कंपनी से लगभग अस्सी-नब्बे लाख रुपए ले जाया करते थे. सभी कर्मचारी सोचा करते थे कि इसमें सरकार के कुछ मंत्रियों के भी हिस्से फिक्स होते होंगे.

ऐसे ही एक दिन इनकम टैक्स वालों का छापा कंपनी पर पड़ा. तापस और मुकेश दोनों कच्चे रसीदों को बैग में भरकर कंपनी के सीक्रेट रास्ते से चलकर कंपनी से बाहर आ गए. कंपनी ने इन्हीं दिनों के लिए सीक्रेट रास्ते बनवाए थे, जिसकी जानकारी कांटा विभाग में काम करने वालों को थी.

मुकेश ने कहा कि कंपनी फिर इनकम टैक्स वालों को अस्सी-नब्बे लाख रुपए का दक्षिणा देगी, लेकिन हमें बोनस देने के नाम पर आंसू बहाएगी.

तापस ने कहा कि इससे अच्छा होता कि कंपनी पक्के रशीदों पर अच्छे ढंग से काम करती और सरकार को भी अच्छे ढंग से कर चुकाती.

मुकेश ने कहा कि ऐसा कभी नहीं हो सकता है. अगर ऐसा हो तो बहुतों की दो नंबर की कमाई बंद हो जाएगी. यही सब बातें करते हुए दोनों अपने-अपने घर चल दिए.

दूसरे दिन दोनों कंपनी गए. कंपनी में सभी जगह इनकम टैक्स के छापे की बात हो रही थी. कांटा विभाग के हेड आशीष बाबू नुकसान की बात कर रहे थे. वो बोल रहे थे कि कंपनी ने तो इनकम टैक्स वालों को भारी-भरकम बोनस दे दिया. अब हम सभी कर्मचारियों को भी बोनस मिल जाना चाहिए. तापस और मुकेश उनकी बातें सुनकर मजे ले रहे थे.

फिर आशीष बाबू ने दीवाली की छुट्टी के बारे में बातें की. उन्होंने बताया कि जी. एम. का ऑर्डर आया है कि इस बार दीवाली में सभी कर्मचारी एक साथ छुट्टी ना लें, अन्यथा पेंडिंग काम काफी अधिक बढ़ जाएंगे.

तब तापस ने कहा कि अगर लोकल स्टाफ रोटेशनल शिफ्ट के द्वारा कुछ घंटे काम कर लें तो वह और मुकेश त्यौहार के बाद ओवरटाइम करके पेंडिंग काम पूरा कर देंगे. आशीष बाबू ने इसकी स्वीकृति दे दी. उन्होंने कहा कि वो किसी तरह मैनेज कर लेंगे. उन्होंने दोनों को दीवाली के लिए कुछ दिनों की अतिरिक्त छुट्टी दे दी.

अगले दिन से तापस और मुकेश की छुट्टी थी. कंपनी में किसी भी स्टाफ को त्यौहार का बोनस नहीं मिला था. वो दोनों सोच रहे थे कि उनकी जिंदगी कितनी भागम-भाग है. उन्हें दीवाली मनाने के साथ ही साथ पेंडिंग पड़े हुए कामों के बारे में भी सोचना था.

❒

संपर्क : द्वारा श्री जयप्रकाश चौधरी
एटी तरणीधर रामपुर, नीयरआदित्य पब्लिक स्कूल,
पोस्ट-मल्हारा, जिला देवघर-814157 (झारखंड)
मो. : 8210366048
ईमेल : nitishkr2005@gmail.com

कहानी

स्वांग

•

मीनाक्षी स्वामी

'चल री छोरी, मेरे साथ पूरी बेलने चल. दो पैसे हाथ में आएंगे और मन भी बहलेगा. नीं तो यूं ई सूनी आंखों से दीवारों को ताकती रेवेगी.'

'पर काकी गुनिया को कौन सम्हालेगा?' भुरली का स्वर जैसे किसी गहरे कुएं से आया.

'इसे भी ले चल. गोदी में लिटा लेना. सोती रेवेगी. रोए तो दूध पिला देना.'

'हां पर...काकी...' भुरली पशोपेश में है.

'अरी चल, लौटते में सौ-सौ के दो करारे नोट मिलेंगे तो पर...वर सब भूल जावेगी.' करारे नोटों के काल्पनिक स्पर्श से भुरली की पशोपेश जाती रही. मन में उमंग आ गई. दो सौ रुपयों में तो कितने सारे काम हो जाएंगे.

'बाबू आ जाएं तो उन्हें बताकर चलें.' अलगनी पर टंगी साड़ी उतारते भुरली ने कहा.

'अरी भागवान, चल तो. तेरा बाबू गली के नुक्कड़ पर ठेला लेके बैठा रेता है इत्ती टेम. ज्यादा ठेला खेंचना अभागे के बस का नीं है. झटपट चल, दूर जाना है. ठेकेदार की गाड़ी वंई खड़ी मिलेगी, नुक्कड़ पे. चूक गई तो बीस रुप्पइये जाने के और इत्ते ई आने के लगेंगे, वो बी सरकारी बस में. बैठने की जगै बी मिले नीं मिलेगी. धक्के खाते खड़े-खड़े जाना पड़ेगा. फिर बचेगा क्या...? एक सौ साठ... चल जल्दी कर.'

भुरली ने जल्दी से फटी-पुरानी साड़ी बदन से उतारी. अलगनी पर टंगी दूसरी साड़ी पहनने लगी. 'ये साड़ी भी जगह-जगह से घिसकर कमजोर हो गई है...' बुदबुदाते हुए भुरली को गुनिया के बाबू की याद आ गई. बुधवार के हाट से दिलाई थी. सफेद साड़ी पर नीले-नीले फूल. घर पर लाए तो माई देखते ही बम भड़ाक हो गई थी.

'काहे अपसगुन करते हो सफेद साड़ी लाकर...'

और फिर जाने कैसे सुरसती आकर बैठ गई होगी माई की जीभ पर. महीना भर भी नहीं हुआ कि गाड़ी की चपेट में आ गया. गुनिया तो पेट में ही थी.

मरद गया कि ससुराल में सब बेगाने. जेठजी का अपनापन नीयत की खराबी से भरा था. रोती कलपती भुरली को बाबू घर ले आए. गुनिया भी यहीं आकर हुई. ससुराल से तो कोई देखने तक न आया.

जन्म : जयपुर (राजस्थान)
शिक्षा : एम.ए. पीएच.डी.
कृतियां : 'नतोऽहम्' 'भूभल' 'सौ कोस मूमल' (उपन्यास) 'अच्छा हुआ मुझे शकील से प्यार नहीं हुआ' (कहानी-संग्रह), 'धरती की डिबिया' (संकलित कहानियां).
संप्रति : प्राध्यापक, म.प्र. शासन उच्च शिक्षा विभाग.

संपर्क : सी.एच. 78 एच.आई.जी., दीनदयाल नगर, सुखलिया, इंदौर-452010 (म.प्र.)
मो. : 9827231935
ईमेल : meenaksheeswami@gmail.com

सोचती-सोचती भुरली काकी के साथ आकर ठेकेदार की गाड़ी में बैठ गई. गाड़ी क्या मेटाडोर है. कढ़ाई, झारे, पलटे, कड़छी के साथ दो हलवाई और चार-पांच पूरी बेलने वाली हैं. काकी ने जगह बनाकर पहले भुरली को बिठाया फिर खुद बैठी. छह महीने की गुनिया गाड़ी में बैठी टुकुर-टुकुर बाजार देखने लगी. भुरली को थोड़ी तसल्ली हुई. कभी गुनिया को देखती, कभी बाजार. धीरे-धीरे वह भी अतीत से बाहर निकल बाजार की रौनक में खो गई. धूप तेज हो गई. भुरली ने गुनिया को अपने पल्लू से ढक लिया. प्यासी होगी गुनिया, सोचकर भुरली ने उसे दूध पिलाना शुरू कर दिया. जरा ही देर में सो गई, गुनिया.

दो सौ रुपए मिले तो बाबू को सहारा हो जाएगा. बाबू की कमर में जाने क्या हो गया है. ऐसा भयानक दर्द चढ़ता है कि न उठते बनता है न बैठते, लेटते. बहुत परेसान होकर अस्पताल में दिखाया तो डाकदर साब ने ढेर सारी दवाएं लिख दी. थोड़ी अस्पताल से मिली. फिर भी एक सौ चालीस की बाजार से लानी पड़ी. कमर में बांधने का पट्टा भी लिखा था. हजार रुप्पइए का था पर किसी ग्राहक ने रहम करके अपने पिताजी का बेकार पड़ा पट्टा दे दिया. सबका मन तो बहुत दुखाए सुरगबासी आदमी का पट्टा लगाने में. मगर हजार रुप्पइए का पट्टा कहां से लावें. 'पट्टा लगाने से थोड़ा आराम हुआ है', बाबू कहते तो हैं पर क्या पता हमारा मन बहलाने को कहते हों. चेहरे पर तो दरद ही लिखा रहता है. डाकदर साब ने तो बाबू को ठेला खींचने का भी मना किया है. मगर क्या करें... ठेला न खींचे तो खाएं क्या...?

गुनिया कुनमुनाई तो भुरली ने उसे थपकाया.

'अरी अभी ज्यादा मत सुला. अब जगा ले. वहां सोती रहेगी तो तू आराम से काम करना.' काकी ने समझाया.

भुरली ने गुनिया को जगा लिया और बाजार दिखाती बातें करने लगी. गुनिया गदगद हंसने लगी तो भुरली का मन हल्का हो गया.

'गारडन आ गया...' एक स्वर उभरा और झटके से गाड़ी रुकी. सब उतरे. भुरली ने देखा, बहुत बड़े मैदान में सजावट हो रही है. मैदान में एक तीन मंजिला सुंदर मकान भी है. ठेकेदार एक ओर चला. वे सब भी उसके पीछे चले. थोड़ा आगे जाकर वह एक जगह रुक गया. वहां पक्की भट्ठी बनी हुई है. खाना बनाने के बड़े-बड़े बरतन भी हैं. यही रसोई है. झारे, पलटे आदि वहीं रख दिए गए. काकी ने भुरली को एक ओर छाया में बैठाया और खुद दूसरी औरतों के साथ बर्तन साफ करने लगी.

'वो...का, ना, आ रई बरतन धुआबा के...'

'छोटी बच्ची है. थोड़ी छांव में सुस्ता लेन दो.' काकी ने सहानुभूति से कहा.

'तुमाई बिटिया है...?'

'हां, बिटिया ई समझो. गोद में खिलाई है. अभागन दुख की मारी है. बच्ची पेट में ई थी कि बिधवा हो गई.' काकी ने करुणा से भुरली की तरफ देखते हुए कहा.

सुनकर वह औरत भी भुरली के प्रति कोमल हो गई. 'ठीक बात है. थोड़ा सुस्ता लेन दो. पीछे तो काम में लगनो ई है, चार-छे घंटा गरमी में.'

जरा ही देर में पूरी तैयारी हो गई. भुरली भी दूसरी औरतों के साथ तेजी से हाथ चलाती सब्जी काटने लगी. दो-तीन औरतें आटा गूंथ रही हैं. हलवाई तेजी से मिठाई आदि तैयार कर रहा है.

गर्मी के मारे गुनिया परेशान है. काम में लगी भुरली बीच-बीच में आंचल से उसकी हवा कर रही है.

'कपरा गीला करके सिर पर डार दो.' वही औरत गमछा देती हुई बोली.

'हां-हां, डाल दो. थोड़ी ठंडक मिलेगी तो सो जाएगी.' काकी ने भी उस औरत के स्वर में स्वर मिलाते हुए समझाया.

भुरली फुर्ती से उठी. नल से गमछा गीला करके गुनिया के माथे पर लपेट दिया. थोड़ी बेफिक्र हुई और काम में लग गई. जरा देर में देखा तो गुनिया कपड़ा हाथ में लेकर हाथ-पैर चलाकर अपने आप खेल रही है. बीच-बीच में कपड़ा मुंह में लेकर खा भी रही है. भुरली निश्चिंत होकर तेजी से पूरी बेलने लगी. सांझ ढलने लगी है.

मैदान में बने मकान में नाच गाना शुरू हो गया है. गाने की आवाज तो साफ आ रही है मगर कुछ दिखाई नहीं दे रहा है. भुरली, काकी के साथ हलकी होने को उठी. लौटते में खुली खिड़की से झांककर देखने की कोशिश की तो ठेकेदार दूर से चिल्लाया 'ये बाइयों, कढ़ाई खाली जा रही है.'

उसका कर्कश स्वर सुन दोनों तेजी से चलकर अपनी जगह पर आ गई.

'चील जैसी निगाह रक्खे है हम पर. एक पल भी इधर-उधर ना ताक सकें.' काकी ठेकेदार के प्रति क्रोध जताते हुए बुदबुदाई.

देर रात काम खतम होने पर ठेकेदार ने सबको रुपए दिए और घर भी छोड़ा.

'कल भी ले आना इसे.' ठेकेदार गाड़ी से उतरती काकी से बोला.

दो सौ रुपए पाकर भुरली के पैर तो जमीन पर ही नहीं पड़ रहे हैं. बाबू दिन भर ठेला लेकर, टूटी दुखती कमर के साथ कड़ी धूप, बरसात झेलते घूमते हैं, तब जाकर भी दो सौ रुपए नहीं निकल पाते. चार जनों का खरचा तो पहले से माथे था ई, ऊपर से मैं और गुनिया भी लद गए. बाबू की मुश्किलें और बढ़ गई हैं. माई घर-घर चौका बरतन करने जाती है. भुरली ने भी यही करना चाहा पर 'बिटिया, अभी तो तू घर सम्हाल ले. गुनिया थोड़ी बड़ी हो जाए तब चलना. गुनिया को काम पर लेकर जाएगी तो मैडम लोग मुंह बनाएंगी.' माई ने समझाया था.

माई भी सुबह से रात तक काम करती. बीच में दो घंटे को घर आती. तब कहीं जाकर किसी तरह घर की गाड़ी खींचने को बल मिलता. भुरली के आने के बाद माई ने कुछ काम और पकड़ लिए थे. और आज पांच छह घंटे में दो सौ रुपए. गुनिया ने भी परेशान नहीं किया. सोचते हुए भुरली को गुनिया पर प्यार उमड़ आया. उसने गुनिया

को पुचकारा.

'काकी, जहां-जहां जरूरत हो मुझे ले चलना.' उत्साह से भरकर काकी से बोली.

'हो हो जरूर. पेले तो मना करी री थी. अबे समझी नीं. मैं कोई तेरी दुसमन थोड़ी हूं. तेरे फायदे की बात ई सोचूं हूं.' स्नेह भरी काकी हंस पड़ी.

'काकी, मुझे चिंता थी कि कहीं गुनिया परेसान करेगी तो...'

'पर देख गुनिया तो मजे से सो गई. बीच-बीच में अपने आप खेलती रही. बिल्कुल थारे पे गई है. तू भी ऐसीज थी छुटपन में.' काकी ने भुरली के सिर पर हाथ फेरा.

'मुझे ठेकेदार का भी डर था.'

'अरे जब गुनिया ने किसी को परेसान ई नीं किया तो ठेकेदार क्या बोलता. अब कल बी चलना है. तेयार रेना.'

अगले दिन भुरली पहले से ही तैयार थी. काकी आई तो गुनिया को लेकर दोनों चली. ठेकेदार की गाड़ी में बैठी तो भुरली ने देखा कि आज, कल से ज्यादा पूरी बेलने वालीं और हलवाई हैं. उसकी आंखों में उठे सवाल पढ़ काकी ने कहा 'आज बहुत बड़ी पालटी है. दो हज्जार लोगों का खाना बनेगा.

अरे बाप रे! तब तो बहुत खरचा होगा! भुरली ने मन ही मन सोचा, खैर जो भी हो हमें तो कमाने का मौका मिलेगा.

गार्डन में पहुंचकर भुरली ने पाया कि आज तो यहां की रौनक कुछ और ही है. गाड़ी के वहां पहुंचते ही फूलों की खुशबू से भर गर्मी में भी ताजगी से भर गई, भुरली.

'ओ बई, पूरे मैदान में रातों रात ये घास कैसे उग गई...?' भुरली हैरान है.

'अरे नीं या तो घास जैसो कालीन है.' काकी ने उसकी हैरानी दूर करने की कोशिश की. मगर भुरली सोचती रही कि कालीन क्या होता है. मंच तक जाने के लिए लाल रंग का कालीन बिछा देख भुरली ने अनुमान लगाया कि ये दरी जैसी कोई चीज है. अंदर आने के बड़े गेट से लेकर भीतर तक फूलों की दीवार बनी है. गार्डन के किनारे भी फूलों की दीवार बन रही है. खुशबू से पूरा गार्डन महक रहा है.

'केसी बढ़िया खुसबू फेली है. मन खुस हुई गयो.' काकी ने गहरी सांस लेकर कहा.

'हां बेन, असली वालो मोगरो, ने गुलाब हे.' दूसरी स्त्री ने जवाब दिया.

हंसी-ठिठोली करती स्त्रियां तेजी से काम निपटाने लगीं. बाकी तैयारियां भी तीव्र गति से चल रही हैं. काम करती स्त्रियां मौका पाते ही इधर-उधर नजर दौड़ाती और भव्य शादी की भव्य तैयारियों की बातें करतीं.

भुरली के लिए यह सब नया है. वह भौचक्की-सी देखती काम करती जा रही है. गुनिया मजे से सो रही है. 'ऐसो लगे जैसे टेबलहोन ने घाघरो पेर्‌यो हे.' काकी ने भुरली का ध्यान टेबलों की ओर दिलाया. उसने देखा सचमुच खाने की सारी टेबलों के ऊपर सफेद झक्ख कपड़ा बिछा है. नीचे लाल रंग का रेशमी कपड़ा, किनारे पर लगे गोटे से चमकता, घेरदार घाघरे जैसा लग रहा है. ऐसी बहुत सारी टेबल गार्डन के एक किनारे पर लगी हैं. जहां वे पूरी, रोटी आदि की तैयारी कर रहे है, वहां उनके आगे भी ऐसी ही टेबल सजी हैं. गार्डन के बीच में भी बहुत सी ऐसी ही सजी-धजी टेबल और रेशमी लाल कपड़ों से सजी कुर्सियां ठसक के साथ खड़ी हैं.

'काकी, वो सिंगासन पर कौन बैठेगा?' भुरली ने मंच की ओर इशारा करते हुए काकी से पूछा.

'वां पे लाड़ा-लाड़ी बठेगा.'

'और उधर कौन बैठैगा?'

'उदर गाना गाने वाली पालटी बठेगी, न वईंज बजाने वाला भी बठेगा.'

'अरे तम सारी लुगायां बातां में लगी हो. जरा जल्दी हाथ चलाओ. असे तो भोत रात हुई जाएगी.' हलवाई ने टोका तो कुछ देर के लिए सब चुप हो गई.

भुरली बीच-बीच में तिरछी निगाह से देख रही है. कुछ लोग स्वांग धरकर तैयार होकर आए हैं. एक जोकर, एक जटाधारी बाबा, एक भोले शंकर और राधा-कृष्ण भी.

'वो उड़ने वाली मसीन से क्या होगा काकी?' भुरली के लिए हर चीज, हर बात नई है. काकी शादियों में हलवाई की सहायक बनकर अरसे से जा रही हैं. सो सामान्य से लेकर भव्य तक सारी शादियों की गतिविधियां उनके लिए नई बात नहीं है. न ही उत्सुकता का कारण. मगर भुरली के लिए सब कुछ नया होने से वह बहुत ध्यान से देख रही है. बहुत कुछ पूछती है, बहुत कुछ नहीं पूछ पाती है. वह जानती है, उसे सब्जी काटना है, पूरी बेलना है. गरम फुल्के बनाना है. इसके उसे पूरे दो सौ रुपए मिलेंगे जिनकी उसे सख्त जरूरत है.

सब काम अपनी गति से चल रहा है कि हड़बड़ाया हुआ ठेकेदार आया.

'काकी, जरा इधर तो आना.'

काकी को एक तरफ ले गया 'काकी, तुम ये जो लड़की लाई हो ना, पूरी बेलने वाली.'

'हो...हो...कई हुयो--?' काकी के मन में पल भर में ढेर सारी शंकाएं उठ गई.

'इससे पूछो, ये फव्वारे वाली मूर्ति बनने को तैयार हो जाएगी...?' हमेशा गरियाते रहने वाले ठेकेदार के स्वर में कोमलता है. काकी की सारी शंकाएं पल भर में जैसे उठी थी वैसे ही शांत भी हो गई.

'पर...इको...तो...'

'पर-वर नहीं काकी, किसी तरह इसे मना लो. जो लड़की आने वाली थी, बीमार हो गई. अभी-अभी एन टाईम पर खबर आई. इतनी जल्दी इंतजाम कैसे होगा!'

'पर...इको...'

'देखो काकी, कैसे भी उसे मना लो. उसकी उमर भी ठीक है. देखने में भी अच्छी है. सबसे बड़ी बात कद-काठी तराशी हुई है. बिल्कुल मूर्ति जैसी.' ठेकेदार गिड़गिड़ाने सा लगा.

'अरे पर...में पूछूं तो...उके...'

'पूरे दो हजार रुपए मिलेंगे.'

'दो हजार की बात सुन काकी हतप्रभ है. जानती है भुरली को रुपयों की सख्त जरूरत है.

'में पूछूं हूं उके. छोटी-छोरी है उका कने.'

'देखो, तुम उसे तैयार कर लो. बच्ची को तुम सम्हाल लेना. तुम्हें इस काम के पांच सौ अलग से मिलेंगे. चार-पांच घंटे की तो बात है.'

'पां...च...सौ...म्हारे...!' काकी हैरान है.

दोनों भुरली की तरफ देखकर बात कर रहे हैं. भुरली का मन आशंकाओं से भर गया. कहीं गुनिया के कारण ठेकेदार को परेशानी तो नहीं...पता नहीं...कोई और बात हो.'

काकी भुरली के पास आने लगी. काकी के आने तक का मिनिटों का समय भुरली को युगों सा लगा. 'जाने क्या बात है!'

'बेटा, वो ठेकेदार कई रिया हे कि फव्वारो बनने वाली छोरी नीं अई. तम बणी जाओ तो...!'

'फव्वारा...? मैं...? पर कैसे...?' भुरली को समझ में नहीं आ रहा है कि वो फव्वारा कैसे बन सकती है.

'वा सब तम ठेकेदार पे छोड़ो. अपना काम की बात या हे कि तमारे दो हज्जार रुप्पइया मिलेगा.'

'दो...हजार...!' आश्चर्य से भरी भुरली लगभग चीख ही पड़ी.

'धीरे बोल...हां दो हज्जार...'

'करना क्या होगा–?' भुरली को विश्वास ही नहीं हो रहा है. उसने दूर खड़े ठेकेदार पर नजर डालते हुए काकी से पूछा.

'कुछ बी नीं करनो हे. वे थारे तयार करी देगा बस वां वो होदी हे नीं वां खड़ी रिजो...बस.' काकी ने दूर बने हौद की तरफ इशारा करते हुए कहा.

'बस वहां खड़े रहना है...कब तक?'

'बस चार-पांच घंटा की बात हे. वे थारे अबी तयार करी देगा. बरात आए उका पेले खड़ी हुई जाजे. जेसे सब खा पी के चला जाए...फिर बस...छुट्टी.' काकी ने समझाया.

'पर काकी, गुनिया को कहां छोड़ेंगे? पहले पता होता तो घर पर माई के पास छोड़ देती. आज माई काम से छुट्टी कर लेती.

'में सम्हाली लूंगी गुनिया के. तू फिकर मत करे.'

'मगर काकी फिर आपका काम...?'

'म्हारे ठेकेदार ने कई दियो हे, वो म्हारे बी गुनिया के सम्हालने का पांच सो रुप्पइया देने को कई रियो हे.'

'पर काकी, गुनिया रोएगी, परेशान करेगी आपको. खुद भी परेशान होगी...पर...दो हजार रूपए...? क्या करें काकी...?''

'देख, अभी उके दूध पिलई दे. चार-पांच घंटा की तो बात हे. जेसे ई लोटेगी वापस सम्हाली लीजे.'

भुरली तैयार हो गई. मजबूरी है, इतनी बड़ी रकम ने उसे तैयार कर दिया है.

'आखिर इत्ते सारे रुपए आएंगे तो गुनिया क्या, पूरे घर के ही तो काम आएंगे.'

भुरली को ठेकेदार एक कमरे में छोड़ आया. काकी भी गुनिया को लेकर उसके साथ है. वहां और भी लड़के-लड़कियों का भेस भरा जा रहा है. तैयार करने वाले भी हैं. उन्होंने भुरली को रेगजीन का गाउन पहनाया. उसका पूरा शरीर ढक गया. केवल चेहरा खुला है. चेहरे पर क्रीम-पाउडर और चमक लगाई. बालों का ऊंचा जूड़ा बना दिया. आंखों के बाहर चारों तरफ मोटी लाईन का काजल लगाया और होठों पर गहरी लाल रंग की लिपिस्टिक. कांच में देखा तो भुरली खुद पर ही मुग्ध हो गई.

भुरली को तैयार करते समय गुनिया उसके पास जाने को मचलने लगी.

'इसे बाहर ले जाओ.' तैयार करने वाली महिला ने कड़क स्वर में कहा.

'एक बार उसे पुचकार लूं.' भुरली ने कहा.

'नहीं. फिर और ज्यादा तंग करेगी.' इस बार उसका स्वर पहले से भी कठोर था.

काकी गुनिया को बाहर ले गई.

भुरली के रेग्जीन के कपड़ों में से बाहर की तरफ नलियां निकली हुई थीं. एक-एक नली दोनों हाथों से, एक-एक पैर के अंगूठे से. एक माथे के जूड़े से. वे लोग भुरली को गार्डन के बीचोंबीच बने पानी के हौद में ले गए. उसके कपड़ों में लगी नलियों को हौद के पाइप से जोड़ा. फिर नल चालू किए. भुरली के हाथों, पैरों और जूड़े से पानी की धार निकलने लगी.

ठेकेदार देखकर खुश हो गया.

'बहुत सुंदर...ये तो पुरानी वाली लड़की से भी अच्छी लग रही है.' मन ही मन बुदबुदाया.

'बस ऐसे ही खड़ी रहना और मुसकाती रहना...हिलना मत. समझो कि तुम लड़की नहीं, मूर्ति हो...पत्थर की मूर्ति.' भुरली को तैयार करने वाली महिला ने भुरली को एक विशेष मुद्रा में खड़ा करके आदेशात्मक स्वर में कहा.

भुरली खड़ी हो गई. मुस्काने भी लगी. मगर उसकी आंखें काकी को ढूंढ रही हैं. काकी की गोद में गुनिया जो है. सिर हिलाए बिना जितनी नजर घुमा सकती है, घुमाकर देखा, उसे काकी कहीं नहीं दिखी.

'शायद भट्‌ठी की तरफ हों.' भुरली ने खुद को समझाया.

एक बार किसी तरह दिख भर जाए, गुनिया. भीतर से परेशान भुरली को याद है कि चेहरे पर मुस्कान हो. मगर बेचैनी बढ़ती जा रही है. रेग्ज़ीन के कपड़ों में गर्मी भी लग रही है, थकान भी. उसे याद आया सुबह भी कुछ खा नहीं पाई थी. गाड़ी जल्दी आ गई थी और उसे आना पड़ा था. गर्मी के मारे गला भी सूख रहा है. सबसे ज्यादा बेचैनी है, गुनिया को लेकर, एक बार दिख भर जाए.

तभी उसके कानों में तैयार करने वाली स्त्री का स्वर गूंजा 'समझो कि तुम लड़की नहीं, मूर्ति हो...पत्थर की मूर्ति.'

'हां, मैं मूर्ति हूं, पत्थर की मूर्ति...मूर्ति चिंता नहीं करती, मूर्ति को गर्मी नहीं लगती, मूर्ति का गला नहीं सूखता.' कुछ पल खुद को समझाती रही, भुरली.

मगर गुनिया की चिंता, गर्मी और भूख ने भुरली को फिर बेचैन कर दिया. बहुत देर

बाद काकी आती दिखी. मगर काकी के पास गुनिया नहीं है. भुरली का मन हुआ कि सब फेंक-फांककर हौद से बाहर आ जाए. मगर...दो हजार रुपयों ने, ठेकेदार के भय ने उसे बांध रखा है.

काकी ने पास आकर कहा 'गुनिया सुई गई हे. उके उधर छांव में सुलई के थारे बताने अई हूं. चिंता मत करजो.' काकी ने भट्टी की तरफ इशारा किया.

'वहां कौन है उसके पास? उसे अकेला क्यों छोड़ दिया, काकी? जाग गई तो...? कहीं रोती खसकती भट्ठी के पास चली गई तो?' कहते हुए भुरली कांप गई. उसकी चिंता कम होने के बदले बढ़ गई. गुनिया के सहारे ही तो वह जी रही है.

मूर्ति बन कर खड़े रहना है पर मूर्ति बोल पड़ी. भुरली को ध्यान आया, उसने कनखियों इधर-उधर देखा, किसी ने नहीं देखा था. ठेकेदार दूर खड़ा किसी से बात कर रहा है.

भुरली ने फिर याद किया 'मैं मूर्ति हूं, पत्थर की मूर्ति. मूर्ति को चिंता नहीं होती...'

'वां वो लछमी हे नी. म्हारी पुरानी सहेली, वा देखी री है उके. हम उधर ईज हैं. उठेगी तो एक बार थारा पास लई अऊंगी.'

'हमम...' बंद मुंह से ही बोलना चाहती है, भुरली. मगर चुप है. उसे याद है कि वह पत्थर की मूर्ति है और मूर्ति बोलती नहीं.

हालांकि पूरी बात सुनकर वह कुछ निश्िंचत हुई, फिर जाती हुई काकी को देखती रही. कुछ दूर तक काकी दिखती रही फिर भीड़ में गुम हो गई. अब तक तो वे गुनिया के पास पहुंच गई होंगी. भुरली बेफिक्र हुई. 'ओह.' भुरली को फिर ध्यान आया, 'मूर्ति बेफिक्र भी नहीं होती.'

गाना गाने के लिए अलग मंच बना है. वहां गाना शुरू हो गया है. जरा ही देर में गहमागहमी शुरू हो गई. शादी वाले परिवार के लोग मुख्य द्वार की तरफ तेजी से जाने लगे. दूर से आती बैंड-बाजे की आवाज पास आती जा रही है. खूब पटाखे चल रहे हैं. पहले तीर जैसा आसमान में जाकर फूटता फिर रंग-बिरंगे जगमगाते सितारे आसमान में बिखर जाते, धीरे-धीरे नीचे आते हुए गुम हो जाते. भट...भट...भट भटाभट फूटने वाले पटाखे भी भरपूर शोर कर रहे हैं. पटाखों के शोर से गुनिया जाग गई होगी. भुरली फिर परेशान हो गई. फिर यकायक दूसरे ख्याल ने उसे डरा दिया, 'कहीं पटाखों की चिंगारी मेरे रेग्जीन के कपड़ों पर गिर गई तो...?' भुरली को तेज गरमी लगने लगी. भूख प्यास के मारे घबराहट होने लगी. सिर भी दुखने लगा. उसे लगा कि वह अभी चक्कर खाकर गिर जाएगी.

मगर नहीं. उसने फिर याद किया 'मूर्ति को चक्कर नहीं आते.' उसने खुद को सम्हाला. दो हजार रुपयों को याद किया, उसे कुछ ठीक लगा. चेहरे पर मुस्कान लाकर फिर शादी की रौनक देखने में व्यस्त हो गई.

औरतें सोने के जेवरों से ऐसी लदी हैं, मानो सोने के कपड़े ही पहन रखे हों. जितने हम लोगों के पास कपड़े नहीं, उससे ज्यादा वे सोने से ढकी हैं. और तो और आदमियों तक ने जेवर पहन रखे हैं. ये सब परिवार वाले हैं, सबने एक जैसी पगड़ी पहन रखी है. और परिवार की औरतों ने लाल चुनरी.

आग का एक छोटा-सा गोला खाने से सजी टेबल से ऊपर उठा, दाल में तड़का लगा, वातावरण में खुशबू फैल गई. भुरली ने आंखों की पुतलियां घुमाकर देखा, दाल में ताजा-ताजा छौंक लगाकर परोसा जा रहा है. पानी-पूरी, दही-बड़ा, आलू-टिकिया, कचौरी, भंरवा पूरी, तरह-तरह के परांठे, सब्जियां, चावल, इडली-सांभर, मिठाइयों की तो गिनती ही नहीं. और भी जाने कितनी चीजें, भुरली को तो नाम भी नहीं पता. उसने देखी भी पहली बार. लोग खा रहे हैं, खाने से भरी प्लेटें जूठे में भी पटक रहे हैं. भुरली का मन तड़प उठा. भूख फिर सिर उठाने लगी.

लेकिन फिर उसे याद आया, 'मूर्ति को भूख नहीं लगती.'

तभी तीन-चार बच्चे हौद के पास आकर फोटो खींचने लगे. उन्हें देख दूसरे बच्चे भी मचलने लगे 'हम भी फव्वारा मूर्ति के साथ फोटो खिंचवाएंगे. उसके साथ फोटो खिंचवाने का सिलसिला शुरू हो गया. एक बालक ध्यान से भुरली को देखते हुए बोला 'अरे...! ये मूर्ति नहीं है, औरत है, जिंदा औरत.' साथ के दूसरे बालक भी इकट्ठे होकर भुरली को ध्यान से देखने लगे.

'हां-हां...!' सब आश्चर्य में डूबे हैं.

'चलो मम्मी को भी दिखाते हैं.' कहते हुए सब चल दिए.

भुरली सोच रही है, 'जब पुतले जैसे ही खड़े रहना है, हिलना नहीं है तो ये लोग पुतला ही क्यों नहीं ले आते हैं, खर्चा भी कम होगा. और हारी-बीमारी...ऐन टाइम पर छुट्टी का लफड़ा भी नहीं. पर...पर यही तो दिखाना है इन अमीरों को कि हम पैसा खर्च करके जिंदा आदमी को भी पुतला बना सकते है. खैर, ये भी ठीक ही है, आखिर हमारे रोजगार का भी तो येई सहारा है.'

तभी भुरली के कानों में गुनिया के जोर-जोर से रोने की आवाज पड़ी. उसने निगाहें उस ओर की, रोती हुई गुनिया को चुप कराने की असफल कोशिश करती काकी उसकी ओर ही चली आ रही हैं.

काकी हौद के पास आकर खड़ी हो गई 'देख गुनिया...फव्वारो...आहा...देख पानी...देख मूरति...कित्ती सुंदर...आहा.'

मगर गुनिया चुप नहीं हो रही है.

'सो के उठी हे. थारे से मिलाने लइ री थी. पर रस्ता में ई रोने लग गी. सायद भूकी हे.' काकी फुसफुसाई.

मगर भुरली कुछ नहीं सुनती.

गुनिया ने भुरली को पहचान लिया है. वह और जोर से रोने लगी, हलक में आवाज फंस रही है. वह भुरली के पास आने को मचल रही है. रो-रोकर गला सूख गया है. मचल-मचलकर भुरली के पास पहुंच जाना चाहती है. जैसे अभी हौद में ही कूद जाएगी.

गुनिया को वश में करने की नाकाम कोशिश करती काकी, भुरली को देख हतप्रभ है.

❐

सिनेमा

हृदयहीन शहरी अभ्यारण्य और कल्पित गांव

मिहिर पंड्या

आराम नगर

महामारी के चलते घटे इस लॉकडाउन ने समूचे देश भारत को जैसे दो हिस्सों में बांट दिया है. क्रूर बंटवारा, सुविधाभोगी और सुविधाहीन के बीच का. बंटवारा, जिसके बारे में हमें मानना चाहिए कि इन दो हिस्सों में तो हम ना जाने कब से बंटे हुए थे, लेकिन इस अमानवीय त्रासदी ने हमारे समाज के ठीक मध्य खिंची इस आर्थिक खाई को आज सबके सामने नंगा कर दिया है.

एक हिंदुस्तान है, जो अपने घरों की सुरक्षित चारदीवारी के मध्य बैठा, डरा हुआ, सांसें रोके इस महामारी का प्रहार टलने का इंतजार कर रहा है. और दूसरा हिंदुस्तान है जो सड़क पर है. भूखा, बेरोजगार, हजारों किलोमीटर की पैदल यात्रा से इन बेमुरव्वत शहरी पिंजरों को छोड़ अपने उस स्मृतियों में बसे गांव या घर की ओर लौटता. स्मृतियों में बसा 'घर', जिसके बारे में उसका कहना है कि अगर मरना ही है तो मरेंगे, लेकिन अपने 'गांव-घर' के आंगन में ही मरेंगे.

वापसी या अपनी स्मृतियों में बसे घर की ओर की गई इस यात्रा के पीछे सिर्फ आर्थिक पहलू नहीं, इसका एक मजबूत सांस्कृतिक पक्ष भी है. जैसा राजेन्द्र यादव ने 'अभी दिल्ली दूर है' किताब की भूमिका में लिखा था, "हम सबका एक 'घर' होता है. बहुत प्यारा, संपूर्ण, सुरक्षित और स्वस्तिदायक...फिर हम 'बड़े' होते हैं और घर 'छोटा' होता जाता है, छूट जाता है. जिंदगी भर हम उसी की तलाश में भटकते रहते हैं. कभी सोच में, कभी सपनों में, कभी रचनाओं में, भौतिक उपलब्धियों में, प्रशस्तियों में, विद्रोह और समझौतों में, कभी निष्क्रियताओं में तो कभी कर्म की दुनिया में...मगर उम्र का, स्थान का, विश्वासों का, मूल्य और मान्यताओं का, भावनाओं और सुरक्षाओं का वह घर हमें कभी नहीं मिलता. लौटकर जाएं तो भी पीछे छूटा हुआ न तो घर वही रह जाता है, न हम...जो कुछ मिलता है वह 'अपना घर' नहीं होता और हम सोचते हैं : कहीं कोई घर होता भी है?

इस सच्चाई का सामना करने से भी हम डरते हैं कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि सचमुच कोई घर हो ही नहीं और हम एक भ्रम को जीते रहे हों...क्या है यह 'घर' का भ्रम जो हमेशा खींचता रहता है? यह भी तो तय करना मुश्किल है कि घर की तलाश आगे की ओर है या पीछे की ओर? यह स्मृति है या स्वप्न? विजन या नास्टेल्जिया? या फैलकर बेहतर दुनिया के लिए आस्था? कभी भी अधूरी छूट जाने के लिए अभिशप्त एक अंतहीन यात्रा ही क्या हमारी नियति है? उपलब्धियों के नाम पर कुछ पड़ाव, कुछ नखलिस्तान... चंद तस्वीरें...अनेक पात्रों के नाम से की जाने वाली कुछ आत्म-स्वीकृतियां.

कभी-कभी मैं सोचता हूं कि क्या दुनिया की सारी सभ्यताएं और संस्कृतियां उन्हीं लोगों ने तो नहीं रचीं जो विस्थापित थे और पीछे छूटे घर की याद में निरंतर वर्तमान और भविष्य की रचना करते रहे? हमें ऐसे वर्तमान में फेंक दिया गया है जो लगातार हमें भविष्य में धकेल रहा है और हर 'है' को अनुक्षण अतीत बना रहा है. कहते हैं आदमी हर क्षण अपने पीछे छूटे हुए किसी 'स्वर्ग' में लौटना चाहता है जहां वह सुरक्षित और सुखी था. व्यक्तिगत स्तर पर मां के गर्भ में लौटने की ललक है. छूटा हुआ असली 'घर' तो वही था. मगर वह यह भी जानता है कि वहां या किसी भी स्वर्ग में वह कभी नहीं लौटेगा.

यहां दो फिल्मों विधु विनोद चोपड़ा की 'परिन्दा', यश चोपड़ा की 'दीवार' तथा लोकप्रिय हिंदी सिनेमा के सबसे पसंदीदा नायक किरदारों में से एक शरत्चन्द्र के रचे 'देवदास' के माध्यम से हम इसी 'गांव-घर' की स्मृति और उसके भारतीय समाज पर प्रभाव के बारे में बातें करेंगे.

"याद है. गांव में अकाल पड़ा हुआ था. नदी-खेत सब सूख गए थे.

याद है इस शहर में जब हम आए थे."

विधु विनोद चोपड़ा की अंडरवर्ल्ड पर बनाई गई प्रामाणिक फिल्म 'परिन्दा' की कथा दो अनाथ भाइयों के जोड़े के इर्दगिर्द घूमती है. इनमें से बड़ा भाई किशन (जैकी श्राफ) अपराध की दुनिया के बहुत भीतर प्रवेश कर चुका है, और फिल्म की शुरुआत से ही यह स्पष्ट है कि उसके विदेश से पढ़कर लौटे छोटे भाई करण (अनिल कपूर) के सामने उसके जीवन की यह सच्चाई पूरी तरह उजागर नहीं है. किशन अपने भाई को अपराध की दुनिया से बचाना चाहता है, फिल्म में जिसका इंसानी प्रतीक अन्ना (नाना पाटेकर) का किरदार है. लेकिन 'परिन्दा' शहर के स्याह हिस्से की कथा कहती है. यहां शहर किसी भंवर-सा अपने भीतर आए इंसानों को जकड़ लेता है और उन्हें बाहर निकलने का कोई मौका नहीं देता.

भारतीय जनमानस का कल्पित गांव

भारतीय जनमानस में गांव की स्थायी छवियों पर विचार करते हुए समाजशास्त्री आशीष नंदी अपने निबंध 'एन एम्बीगुएस जर्नी टू दि सिटी' में तीन भिन्न माध्यमों में गांव की उन तीन मौलिक कल्पनाओं को याद करते हैं जिनसे गांव की लोकप्रिय छवि सबसे ज्यादा प्रभावित रही. इनमें पहला संदर्भ है भारतीय राजनीति में मौजूद गांव की छवि, जिसके पीछे सबसे प्राथमिक भूमिका अदा करता है गांधी की कल्पना का गांव. इसी तरह नंदी भारतीय सिनेमा में गांव की सबसे प्रामाणिक छवि के लिए सत्यजीत राय की 'पाथेर पांचाली' के गांव को चिह्नित करते हैं. भारतीय समाजशास्त्र में सबसे उल्लेखनीय गांव की छवि के लिए वे एम. एन. श्रीनिवास के अध्ययन के गांव का उल्लेख करते हैं. लेकिन इन तीनों ही गांव की छवियों की रचना में नंदी एक समान तथ्य का उल्लेख करना नहीं भूलते. और वो तथ्य है इन तीनों ही गांवों का वास्तविक अनुभव से कम और कल्पित अनुभव से ज्यादा जन्म लेना.

वे गांधी के गांव का उल्लेख करते हुए यह बताते हैं कि भले ही आज हम गांधी को उनकी गांव की केंद्रीय भूमिका वाली ग्राम-स्वराज की विचारधारा के लिए जानते हैं, गांधी का गांव से सीधा संबंध उनके जीवन में बहुत बाद में जाकर बना था. गांधी पश्चिम भारत के एक शहर में उच्चवर्ग में पैदा हुए थे और उनकी पढ़ाई-लिखाई भी शहरी माहौल में ही हुई. उनकी उच्च शिक्षा भी ब्रिटेन में हुई और इन तथ्यों को देखते हुए यह मानने की कोई वजह नहीं कि गांधी के गांव की रचना में उनके स्वयं के गांव में बिताए बचपन की कोई भूमिका थी. गांधी असली गांव के सीधे सम्पर्क में अपने जीवन के मध्य सालों में तब आते हैं जब वे इसे अपनी रणनीतिक योजना में एक महत्त्वपूर्ण स्तंभ की तरह शामिल करते हैं. इसी तरह सत्यजीत राय की 'पाथेर पांचाली' का गांव जिसे बहुत से आलोचक भारतीय सिनेमा का सबसे प्रामाणिक गांव मानते हैं, भी कल्पित गांव ज्यादा था, क्योंकि राय ने खुद लिखा है कि उनका भारतीय गांव से पहला प्राथमिक परिचय तब होता है जब वे एक ग्रामीण इलाके में 'पाथेर पांचाली' का फिल्मांकन शुरू करते हैं.

और इसी तरह एम. एन. श्रीनिवास के समाजशास्त्र के प्राथमिक गांव के उदाहरण में भी नंदी यू. आर. अनंतमूर्ति की कही इस बात को रेखांकित करते हैं कि 'दि रिमेम्बर्ड विलेज' में उनके रचे गांव के भारतीय समाजशास्त्र में कालजयी बन जाने के पीछे इस वजह ने काम किया कि उनके ग्रामीण जीवन से संबंधित ज्यादातर आंकड़े अग्नि में जल गए थे और इसीलिए उनका रचा गांव दरअसल उनकी स्मृतियों पर ही निर्भर रहा.

यहां दर्ज तीनों ही उदाहरणों के माध्यम से नंदी दरअसल भारतीय गांव की उस छवि को रेखांकित करते हैं जो वास्तविक होने से ज्यादा शहर की सभ्यता के 'अन्य' की जरूरत को पूरा करने के लिए रची गई. और यहां मैं यह जोड़ना चाहूंगा कि जैसे-जैसे शहर का विचार उसके निवासी नागरिक के लिए और ज्यादा असह्य होता गया है, वापस लौट जाने के लिए गांव के निरपेक्ष अभ्यारण्य की जरूरत भी बढ़ती गई है. विधु विनोद चोपड़ा की पहली फीचर फिल्म 'परिन्दा' में भी इस कल्पित गांव को लौट जाने की ख्वाहिश बार-बार लौटकर आती है. नायक द्वय की कल्पना का यही कल्पित गांव यहां उस निर्दोष भोलेपन का प्रतीक बन जाता है जिसे इस शहर ने उनसे छीन लिया है. और उन्हें लगातार लगता है कि उनकी जिंदगी उस दिन सिरे से बदल जाएगी जिस दिन वो इस शहर को छोड़कर वापस गांव लौटने में सफल हो जाएंगे.

गांव और शहर के स्याह-सफेद द्वैध

लेकिन 'परिन्दा' में वो क्षण कभी नहीं आता. परिन्दा के शहर में लौटकर आता गांव दरअसल उन स्मृतियों का गांव है जो शहरी यंत्रणा से तंग नागरिक की कल्पित स्मृतियां हैं. और ये स्मृतियां ही हैं जो उनके लिए उस भोलेपन और निर्दोष समय की रचना करने लगती हैं, जब शहर की परिकल्पना किरदारों के मन में भय पैदा नहीं करती थी बल्कि उम्मीदों की रचना करती थी. फिल्म में इसके सबसे प्रतिनिधि चिह्न किरदारों के बचपन की छवियां हैं जिनमें मुंबई शहर उम्मीदों से भरा शहर दिखता है. बचपन की स्मृतियों के शहर में जिंदगी में गरीबी होते हुए भी भविष्य के प्रति उम्मीद है. इसके विपरीत समकालीन शहर अंधेरा शहर है जिसमें भविष्य स्याह नजर आता है.

'परिन्दा' को नागरिक द्वारा शहर के बारे में और शहर के साथ देखे गए सपनों के बेरहमी से अंत की रचना करने वाली फिल्म के तौर पर देखा जा सकता है. और यह शहर के 'अन्य' के तौर पर एक कल्पित गांव की स्थापना भी करती है, जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया. फिल्म में एक से ज्यादा बार नायक द्वय के गांव वापस लौट जाने के संदर्भ आते हैं. खासतौर पर तब जब शहर में उनके जीवन पर हिंसा और आतंक से जुड़ा खतरा मंडराता है. जब किशन को अन्ना के गुंडों द्वारा गोली मार दी जाती है और वो अपने घर में बिस्तर पर घायल पड़ा है, वो अपने गांव को और वहां बिताए बचपन को याद करता है. ठीक इसी तरह जब करण नायिका पारो के साथ अपने प्रेम को आगे बढ़ाकर रिश्ते का रूप देना चाहता है, उनके भविष्य के सपने में यह निहित है कि वह शादी के बाद शहर छोड़कर गांव लौट जाएंगे. नायिका वहां बच्चों को पढ़ाने की बात करती है. फिल्म में 'गांव' निर्दोष भोलेपन का प्रतीक है, जिसे शहर की यंत्रणा ने नष्ट कर डाला है.

सबसे ज्यादा यह प्रतीक वहां उभरकर आता है, जब करण फिल्म के अंत में किशन से अपनी शादी करने की बात और शादी करने के बाद वापस गांव लौट जाने की बात कहता है. किशन द्वारा करण को अन्ना के अपराध के साम्राज्य से

दूर रखने की कोशिश इसके मूल में है. यहां रेखांकित किया जाना चाहिए कि दो भाइयों की यह भिन्न पहचानें मिलकर शहर के परिदृश्य पर एक ही पहचान रच रही हैं. यह एक ही इंसान की खंडित पहचान की तरह है, जहां करण की निश्छलता दरअसल किशन के भीतर कभी रहे उस निर्दोष भाव का प्रतीक है जिसे शहरी जीवन की जद्दोजहद और पेट की भूख ने बचपन में उससे छीन लिया था.

'रवि' की अच्छाई बचाने को 'विजय' का विषपान

'परिन्दा' ये किरदारों में द्वैध गढ़ने वाला प्रयोग लोकप्रिय हिंदी सिनेमा में पहली बार नहीं करती. इससे पहले बहुत सफल तरीके से यश चोपड़ा निर्देशित सलीम-जावेद की लिखी क्लासिक फिल्म 'दीवार' में यह प्रयोग दोहराया जा चुका है. गौर से पढ़िए, 'दीवार' की कहानी साफ बताती है कि शशि कपूर द्वारा निभाए छोटे भाई के किरदार 'रवि' का स्कूल जाना तभी संभव हो पाता है, जब बड़ा भाई 'विजय' का अपराध की ओर कदम जाता है. 'दीवार' की पटकथा बताती है कि गरीब के लिए मौके इस कदर कम छोड़े गए हैं व्यवस्था में, कि उसकी 'नैतिकता' के साथ जीने की चॉइस भी खुद उसकी नहीं, उसके पास नहीं. अगर किसी एक 'रवि' को गरीबी के दलदल से 'सही' रास्ते से निकलना है तो जरूरी है कि दूसरा 'विजय' अनैतिक रास्तों पर चले, विष पिए.

ठीक 'परिन्दा' के 'किशन' और 'करण' की तरह, शशि कपूर का निभाया 'रवि' और अमिताभ का निभाया 'विजय' दरअसल एक ही किरदार के दो पहलू हैं. 'दीवार' की कथा को उसकी संपूर्णता में तभी देखा और समझा जा सकता है. यह कथा दरअसल उस व्यवस्था का खोखलापन उजागर करती है जिसमें स्कूल जाने को आतुर नन्हें 'रवि' की नैतिकता तभी सुरक्षित बचाई जा सकती है, जब उससे कुछ ही बड़ा किशोरवय 'विजय' अपनी अच्छाई का त्याग करे. हां, दर्शक रवि के किरदार में बचाई गई सच्चाई से ज्यादा उसे बचाने की कोशिश में जो विष विजय के किरदार ने पिया, उससे ज्यादा आईडेंटिफाई करते हैं. क्योंकि हमारे समाज में आज भी रवि बहुत थोड़े लोगों को होने का मौका मिला है, लेकिन विजय बहुतायत से मिलेंगे. इसीलिए 'विजय' ही दीवार का हीरो है जनता के लिए.

'परिन्दा' भी इसी तरह गांव के निर्दोष भोलेपन और शहरी अपराधी की दोहरी पहचान को रचने के लिए दो भाइयों के किरदारों को इन दोनों भावों का प्रतिनिधि बना देती हैं. किशन जहां शहर में रहकर उसके स्याह चेहरे का प्रतिनिधि हो जाता है, वहीं करण जो अपराध की दुनिया से दूर है और विदेश से पढ़कर आया है, निर्दोष पहचान का प्रतिनिधि किरदार हो जाता है. यहां किशन द्वारा करण को अपराध की दुनिया से बचाने की कोशिश दरअसल अपने भीतर के उस निरपराध भोलेपन को बचाने की कोशिश है, जिसे शहर की अमानवीय जीवन ने उससे छीन लिया.

मृत्यु के पहले देवदास की अंतिम कोशिश

क्या 'परिन्दा' के नायक की तुलना भारतीय सिनेमा के सबसे चहेते नायक देवदास की अपने अंत से पहले एक बार वापस पारो के पास लौट जाने की तमन्ना से की जा सकती है? यहां आशीष नंदी की प्रथमेश चन्द्र बरुआ पर लिखते हुए देवदास के किरदार के बारे में की गई यह टिप्पणी देखना समीचीन होगा. आशीष नंदी प्रथमेश चन्द्र बरुआ के जीवन और उनकी बनाई पहली 'देवदास' को आधार बनाकर लिखे अपने आलेख 'दि सिटी एज दि इनविटेशन टू एन एंटीक डेथ' में 'देवदास' को दो भिन्न जीवनचर्याओं की आपसी टकराहट के तौर पर पढ़ते हैं. ये दो भिन्न जीवन चर्याएं सरल अर्थों में समाज व्यवस्था के सामंतवाद से पूंजीवाद की ओर संचरण के तौर पर भी पढ़ी जा सकती हैं.

नंदी लिखते हैं, "देवदास हिंदुस्तानी सिनेमा का वो पहला सफल नायक है जो उस प्रथम पीढ़ी के 'ग्रामीण एलीट' की तड़प अपने भीतर समेटे है जिसे उसने विश्वयुद्ध से पहले के औपनिवेशिक शहर में प्रवेश करने की प्रक्रिया में पाया था. उसकी आत्महंता प्रवृत्ति पर उसके द्वारा घोषित गांव के नकार की भी छाप है—वही गांव जहां वह मृत्यु के ठीक पहले एक आखिरी बार लौटता है, हृदयहीन शहर में गुमनाम मौत से बचने और अपने नष्टप्राय अतीत को वापस हासिल करने की एक अभिशप्त कोशिश—और यह उसका शहरी छलावों और इस नई सम्मोहक जीवन शैली का अंततः अस्वीकार भी है."

देवदास के अंततः गांव वापस लौटने को कहीं न कहीं उसके द्वारा उस भोलेपन की पुनःप्राप्ति की चाह में भी पढ़ा जा सकता है जिसे वह पारो के साथ बिताए अपने बचपन की स्मृतियों में पाता है और इसीलिए समझता है कि पारो उस अप्राप्य ग्रामीण निश्चिंतता का द्वार है. देवदास के इस किरदार की छाप अमिताभ बच्चन के सत्तर के दशक में निभाए गए 'एंग्री यंग मैन' के किरदारों में भी पढ़ी जा सकती है, जिसमें से प्रतिनिधि फिल्म 'दीवार' का मैंने ऊपर जिक्र किया. 'दीवार' में भी अमिताभ के किरदार 'विजय' का फिल्म के अंत में अपनी मां की गोद में लौटना इसी ग्रामीण नैतिकता की पुनःप्राप्ति के असफल प्रयास की तरह है.

गांव यहां एक निर्दोष प्रतीक है, लेकिन उस तक पहुंचने का कोई जरिया या प्रतीक अब शहर के नागरिक के पास बाकी नहीं. अंतिम पुल भी टूट गए हैं. हत्यारा समय है. राष्ट्रीय राजमार्गों पर भूख से तड़पकर गिरे कामगारों की लाशें हैं. हमारी शहर आधारित नागरिक सभ्यता का मुलम्मा भरभराकर ढह रहा है.

❒

संपर्क : ईमेल : miyaamihir@gmail.com

कहानी

एंजल ऑफ द लेक

•

मुकुल जोशी

गुड शेफर्ड स्कूल की गोल्डन जुबली कार्यक्रम का आज दूसरा और अंतिम दिन था.

उटी हिल-स्टेशन के इस प्रसिद्ध स्कूल की गोल्डन जुबली की तैयारियां दो माह पूर्व से शुरू हो गई थीं. स्कूल की ओल्ड बॉयेज एसोशिएशन (ओ बी ए) ने डेढ़ सौ के करीब पुराने छात्रों को इस समारोह में शरीक होने के निमंत्रण-पत्र भेजे थे, परंतु ऑफिशियल व्यस्तताओं के कारण सिर्फ बावन ओल्ड बॉयेज ही स्कूल पहुंचे थे. स्कूल का ओ बी ए पुराने छात्रों से ई-मेल के माध्यम से जुड़ा था और ओल्ड बॉयेज भी अपने स्कूल से जुड़े थे. कइयों के बच्चे भी अब इसी स्कूल में पढ़ रहे थे. समय-समय पर ओल्ड बॉयेज ने स्कूल को इनफ्रास्ट्रक्चर डिवलपमैंट के लिए आर्थिक सहायता भी प्रदान की है. स्कूल के गेस्ट हाउसेज और स्पोर्ट्स कॉम्प्लेक्स के निर्माण में ओ बी ए का विशेष योगदान रहा है.

कई पुराने छात्र अपने परिवारों के साथ स्कूल आए थे. यूं तो स्कूल के गेस्टरूम और शहर के नजदीकी होटलों में उनके रहने की व्यवस्था की गई थी, परंतु जब बहुत से ओल्ड बॉयेज ने स्कूल के अपने पुराने हाउसेज में रहने की इच्छा प्रकट की, तो उन्हें उन्हीं के हाउसेज में रुकवाने का बंदोबस्त कर दिया गया. दरअसल पुराने छात्र अपने स्कूल के दिनों की यादों में सराबोर होना चाहते थे. और यह स्वाभाविक भी था.

गोल्डन जुबली के दो दिन के कार्यक्रम में कई प्रोग्रेम रखे गए थे. पहले दिन रिसेप्शन के बाद स्पेशल मॉर्निंग एसेम्बली, ऑडिटोरियम में प्रिंसिपल द्वारा शहर से आमंत्रित गणमान्य अतिथियों, अभिभावकों, ओल्ड बॉयेज और स्टाफ के सम्मुख स्कूल रिपोर्ट का प्रस्तुतीकरण, मैस में गेस्ट लंच, दोपहर को ओल्ड बॉयेज और वर्तमान छात्रों के बीच दस-दस ओवर का क्रिकेट मैच, शाम को सात बजे से नौ बजे तक स्कूल ऑडिटोरियम में सांस्कृतिक कार्यक्रम और फिर गेस्ट डिनर.

अगले और अंतिम दिन ओल्ड बॉयेज और स्कूल स्टाफ की कोन्नूर में पिकनिक. कोन्नूर में लंच की व्यवस्था वहां के डिफेंस सर्विस कोर की ऑफीसर्स मैस में की गई थी, जिसका कमाण्डैंट ब्रिगेडियर उमंग सेठी इसी स्कूल का ओल्ड बॉय था और वह भी स्कूल की गोल्डन जुबली में शरीक होने आया था.

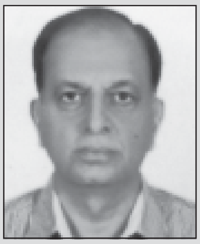

शिक्षा : एम.एम. (अंग्रेजी), एम.एड. कृतियां : 'मैं यहां कुशल से हूं'. देश की लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित. कुछ कहानियां उड़िया भाषा में भी अनूदित.

संपर्क : 23/1, बी-ब्लॉक, मधुपार्क रिज अपार्टमेंट्स, लंगर हौज, हैदराबाद-500031 (तेलंगाना)
मो. : 9591701924
ईमेल : mcjoshi.edu@gmail.com

शाम के चार बजे पिकनिक खतम हो गई और पांच बजे तक सब स्कूल की बस से वापस स्कूल कैंपस पहुंच गए थे. अब सिर्फ ओल्ड बॉयेज और उनके परिवार के लिए एक इनफॉर्मल पार्टी होनी थी. इस पार्टी का आयोजन स्कूल के गेस्ट हाउस मैस में किया गया था.

इन ओल्ड बॉयेज में सब प्रतिष्ठित व्यक्ति थे—डॉक्टर, इंजीनियर, ब्यूरोक्रेट, सैन्य-पुलिस अधिकारी, बिजनैस मैन, फिल्म प्रोड्यूसर, टीवी आर्टिस्ट, प्राइवेट कंपनीज के सीइओ, वकील आदि. परंतु स्कूल कैंपस में पहले दिन से ही वे सब बच्चों में तब्दील हो गए थे. अपने पुराने सहपाठियों से ठहाके लगाते, बात-बात पर एक दूसरे की पीठ पर हाथ मारते, शोरगुल करते वे सब ओल्ड बॉयेज की इमेज से बाहर आ गए थे. किसी दार्शनिक ने सही ही कहा है—आदमी के अंदर का बच्चा कभी नहीं मरना चाहिए. सहजता, सरलता, उन्मुक्तता और मनमौजी स्वभाव से ही तो जीवन जीवंत बनता है.

शाम के छह बजे तक गेस्ट हाउस का लॉन पार्टी के लिए तैयार हो चुका था. लॉन में जगह-जगह चार-पांच के समूह में कुर्सियां और पैग टेबल्स रखे गए थे. लॉन के बीचों-बीच एक छोटा सा स्टेज बनाया गया था जिस पर माइक-स्टैंड पर माइक फिट था. लॉन के दो कोनों में बार और स्नैक्स के स्टैण्ड लगे थे. मैस वेटर सफेद ड्रैस पहने लॉन में चीजों को व्यवस्थित कर रहे थे. बार में लगा म्यूजिक सिस्टम वातावरण को संगीतमय बना रहा था.

मेजर रमेश तिवारी जब अपनी पत्नी और दो बेटियों के साथ रूम से तैयार होकर बाहर निकला, सवा सात बज चुके थे. उसकी दोनों छोटी बेटियां उससे हाथ छुड़ाते हुए लॉन में चहचहाते इधर-उधर फुदकने लगीं. कई ओल्ड बॉयेज अपने परिवार के साथ लॉन में टहलते दिखे. कुछ अपने रूम्स से निकल ही रहे थे. कुछ गेस्ट हाउस के गेट के बाहर से अपनी पत्नियों को हाथ से इंगित करते कुछ दिखाते बतिया रहे थे.

साढ़े सात बजे तक लॉन में रखी गई कुर्सियां पूरी भर गई थीं. हर तरफ गर्मजोशी का माहौल था और ओल्ड बॉयेज का अतीत अब सजीव हो उठा था. वेटर्स धीरे-धीरे अब सबको ड्रिंक्स दिखाने लगे. कुछ ओल्ड बॉयेज सीधे बार की तरफ चल दिए.

‘लेडीज एंड जेंटलमैन. ए वेरी गुड ईवनिंग टु ऑल ऑफ यू. इट्स ए मेमोरेबल डे इन अवर लाइफ. कल सुबह हम सब अपनी-अपनी जगहों को चले जाएंगे. फिर न जाने कब मिलना हो. सो लैट्स मेक दिस अकेजन चैरिशेबल. आप में से प्रत्येक यहां स्टेज पर आकर अपनी जिंदगी का कोई अभूतपूर्व, अनफॉरगेटेबल इनसिडेंट या एक्सपीरिएंस सुनाएगा. यदि किसी को ऐसी इनसिडेंट या एक्सपीरिएंस याद न आए, तो वह स्टेज पर आकर गाना गा सकता है. ओ. के.! सो चेयर्स! लांग लिव द स्कूल एण्ड द स्कूल ‘फ्रेटर्निटी’ जनार्दन रेड्डी, जो ओल्ड बॉयेज में सबसे सीनियर था, स्टेज से सबको संबोधित कर बोला.

एक-एक कर कई ओल्ड बॉयेज स्टेज पर आए और अपने-अपने कार्यक्षेत्र अथवा अपनी निजी जिंदगी से जुड़े कुछ यादगार प्रसंग सुनाए. कइयों ने स्टेज पर आकर गाने सुनाए और जिसको गाना गाना नहीं आता था, उसने चुटकुले या फिर अपने स्कूल के दिनों के रोचक प्रसंग सुनाए.

इस दौरान ड्रिंक्स के दूसरे-तीसरे दौर चलते रहे. वेटर स्नैक्स दिखाते रहे. गप-शप बीच में चलती रही.

‘यंग मैन! यू सीम टु बी द यंगेस्ट अमंग्स्ट ओल्ड बॉयेज. टैल अस समथिंग. इट्स योअर टर्न नाउ... ’ बिजनेसमैन और सबसे सीनियर ओल्ड बॉय जनार्दन रेड्डी ने कुछ दूर अपने परिवार के साथ बैठे अपनी बेटियों से बतियाते मेजर रमेश तिवारी के कंधे पर हाथ रखते कहा.

‘सर्टेनली सर! आइ वॉज वेटिंग फार द मूमैण्ट!’ यह कहते मेजर तिवारी कुर्सी से उठा और उसने पास ही खड़े वेटर से बार के पीछे रखी हुई गोल्डन पेपर में रैप की हुई पेंटिंग स्टेज में लाने को कहा. साढ़े तीन फीट लंबी और दो फीट चौड़ी ऑयल पेंटिंग थी यह. ऐसी ही एक और पेंटिंग उसने अपने घर के ड्राइंगरूम में लगाई थी. गोल्डन जुबली में स्कूल को गिफ्ट करने के लिए यह पेंटिंग वह लाया था. ओल्ड बॉयेज एसोशिएशन से ई-मेल के द्वारा जिस दिन उसे स्कूल की गोल्डन जुबली की तारीख का पता लगा, तभी से उसने स्कूल के लिए पेंटिंग बनाना शुरू कर दिया था. वह सोच के आया था कि यह पेंटिंग ओल्ड बॉयेज गेस्ट रूम के डाइनिंग हॉल में लगाएगा.

मेजर तिवारी अब स्टेज की तरफ धीरे-धीरे कुछ सोचते, मन ही मन बुदबुदाते बढ़ रहा था. उसके आगे बढ़ते ही उसकी दोनों बेटियां स्टेज के सामने खाली दो कुर्सियों पर बैठ गईं. यह प्रसंग पिछले पांच सालों में वह न जाने कितने लोगों को बता चुका है. करीब साढ़े पांच साल पहले आसाम के जंगल के पास के एक गांव में घटित हुआ ये प्रसंग उसे अक्सर याद हो आता है. और इस प्रसंग ने उसकी जिंदगी का फलसफा ही बदल दिया. स्टेज पर चढ़कर उसने चारों तरफ देखा. ठहाके, गपशप अब फुसफुसाहट में बदल गई थी. सब उसको सुनने के लिए तत्पर दिखे. इस बीच वेटर बार से गोल्डन पेपर में रैप की हुई पेंटिंग भी स्टेज की दीवार से सटाकर रख गया था.

‘गुड ईवनिंग लेडीज एंड जेन्टल मैन! ए रियली मेमोरेबल एंड ग्रेट डे फॉर ऑल ऑफ अस टु बी एट अवर आल्मा-माटर ऑन द गोल्डन जुबली. आई विश द स्कूल फ्रेटरनिटी द वैरी बैस्ट ऑफ लक!’

यह घटना सन् 2011 की है. तब मैं आसाम के लेखाबाली में पोस्टेड था. यह प्रसंग किसी भी टीवी चैनल की न्यूज में आ सकता था...पर...खैर!

हमारी यूनिट फील्ड एक्सरसाइज के लिए ऑपरेशनल एरिया में तैनात थी. ऐसी फील्ड एक्सरसाइजेज आर्मी में होती ही रहती हैं. आर्मी में कहते भी हैं—‘द मोर यू स्वैट इन पीस, द लैस यू ब्लीड इन वार’.

एक्सरसाइज के व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद शाम को फुर्सत मिल ही जाती थी. चाहे सो लो, कार्ड्स खेल लो, म्यूजिक सुन लो या आसपास टहल लो.

जिस जंगल के पास हमारे टैंट लगे थे उससे करीब एक कि.मी. दूर एक गांव था. सरहद से सटा गांव. पांच दिन हो गए थे हमें इसी लोकेशन में रहते हुए. हर दिन एक अलग ऑपरेशनल एक्सरसाइज होती—कभी प्लाटून इन डिफेंस, प्लाटून इन अटैक, तो कभी बूबी ट्रैप्स, माइंस बिछाना...

आदतन सुबह जल्दी उठते ही मैं अपने टैंट से बाहर निकल गले में दूरबीन लटकाए करीब आधा कि.मी. घूम के वापस आ जाता. जबकि और अफसर देर तक सोए रहते.

वे जनवरी के दिन थे. तो एक सुबह मैं टैंट से सुबह चहलकदमी करते करीब आधा कि.मी. दूर एक ऐसे प्वॉइंट पर आया, जहां से गांव को एक कच्ची सड़क जाती थी. फिर तो रोज ही इस प्वाइंट तक टहलने मैं आने लगा. मैं रोज ही देखता—दूर गांव के घरों, पेड़ों के झुरमुटों की दिशा से सैकड़ों पक्षी उगते सूरज के लाल गोले की दिशा में उड़ चलते. उसी दिशा से गाय-भैंस-बकरियों का विशाल काफिला गांव की दिशा से आ रही कच्ची सड़क पर धूल उड़ाता उसी की दिशा की तरफ आता दिखता. कुछ बच्चे पीठ पर बैग-सा लटकाए डंगरों के काफिले के पीछे दिखा करते. दूरबीन से बाएं तरफ करीब दो सौ मीटर दूर मुझे तीन तरफ पेड़ों के झुरमुटों से घिरा एक बड़ा-सा तालाब भी नजर आता. तालाब की खुली साइड की तरफ एक विशाल बरगद का वृक्ष था. मैंने मन ही मन निश्चय किया कि एक्सरसाइज खत्म होने से पहले तालाब तक होकर आऊंगा. तो एक शाम मैं उसी दिशा में कंबैट ड्रैस पहने गले में दूरबीन लटकाए चल पड़ा. जंगल के मौन से बात करने का अलग ही आनंद होता है. मैं अब कच्ची सड़क पर पहुंच चुका था. जगह-जगह रास्ते में गोबर पड़ा था. बाएं तरफ जहां तालाब था, कुछ दूर आगे जाकर मैंने देखा, बरगद के पेड़ के नीचे दो बड़ी वैन और दो कारें खड़ी हैं. साथ ही करीब दस-पंद्रह आदमियों का जमावड़ा नजर आया. कुछ लंबे स्टैंड नजर आए. आठ-दस की संख्या में. उत्सुकतावश मेरी चाल में तेजी आ गई. नजदीक पहुंचने पर समझ में आया कि कोई पिक्चर की शूटिंग चल रही है. लंबे स्टैंड दरअसल फ्लड लाइट और मूविंग कैमरा स्टैंड थे. पेड़ के नीचे कुर्सियों में बैठे हैट पहने दो व्यक्ति एक गांव-बूढ़े से बातें कर रहे थे. उस बूढ़े आदमी के हाथ में लाठी थी और उसके ठीक पीछे गांव का ही एक लड़का खड़ा था. बहस सी हो रही थी कुर्सी में बैठे हैट पहने आदमी और उस गांव-बूढ़े के बीच.

'अरे ताऊ ये बता, इस टाइम यहां शूटिंग क्यों नहीं हो सकती—हैट पहना आदमी, जो शायद फिल्म का डायरेक्टर, प्रोड्यूसर रहा होगा, बोला.

सामने कच्ची सड़क पर डंगरों का विशाल रेला धूल उड़ाता मेरी ही दिशा में आता दिखता है. कुछ गाय-भैंसें मेरे करीब पहुंचने वाले हैं. उनके गले में बंधी घंटियों की स्वरलहरी में मंदिर की घंटियों के स्वर से कहीं अधिक मधुरता और सुकून मुझे महसूस होता है.

इस पर गांव-बूढ़ा बोला—'मैंने आपसे कै दियो है इस टैम यहां जमावड़ा ना हो सके, तो ना हो सके. कल सुबै से तीन बजे के पहले आ जय्यो. तब हमकू कतई परेशानी ना है'.

कुर्सी पर बैठा हैट पहना दूसरा आदमी उठा और जेब से नोटों की एक गड्डी निकाल गांव-बूढ़े को देते बोला—'अरे ताऊ ये पांच हजार ले, और हमें यहां शूटिंग करने दे. दिन ढलने से पहले निकल जाएंगे हम. इतनी दूर से यहां आए हैं.'

लेडीज एंड जेंटलमैन सुनिए! इस पर गांव-बूढ़े ने क्या कहा.

कहने लगा—'बात समझा करो. ये हमारो गांव है. और हमारो गांव बड़ा-सा घर होवे है. गांव के डंगर भी हमारो परिवार होवे हैं. गांव के सारे डंगर सुबै दो-तीन कोस दूर चरने जावें हैं और अब शाम को उनके आने को टैम हो गवो है. पूरे दिन चरने को गए डंगर थककर इस तालाब में आकर अपनी प्यास बुझावे हैं. हमने हमेशा से देखो है कि हमार डंगर भीड़-भाड़ शोर-गुल देखते ही तालाब से दूर ठिठककर खड़े हो जावे हैं. प्यासो ही उनको घर जाना पड़ेगो. और गांव को कोई भी आदमी ये बर्दास्त ना करेगो. वो देखो, दूर से डंगरों की लैन इसी तरफ, आ रई है. आपसे बिनती है, बताए गए टैम पर कल आ जाओ.'

आप भी चौंक गए न! उसकी बात सुनकर मैं भी अवाक हो गया था. जानवरों के प्रति मनुष्य की इतनी संवेदनशीलता! बैठे-बिठाए गांव-बूढ़े को चार-पांच हजार मिल रहे थे. फिर मैंने उस गांव-बूढ़े पर नजर डाली. पूरा सुदामा लग रहा था—नंगे पांव, फटा कुर्ता, जगह-जगह से उधड़ा स्वेटर और चीकट धोती.

फिर हैट पहना आदमी उसके और पास जाकर प्यार से कंधे पर हाथ रखते बोला—'मेरे अच्छे ताऊ मान भी जा अब. दो हजार और ले ले...रहम कर...'

इस उत्तर को सुनकर गांव-बूढ़ा पीछे हटते जोर से बोला—'साब अभी चले जाओ. नई ते इस लड़के को गांव भेजकर गांव के लोगों को बुलाऊं. ग्वाले भी आ रहे हैं.'

उसकी इस बात को सुनकर दोनों हैट पहने आदमियों के मुंह से सहसा 'शिट!' शब्द निकला. फिर हैट पहने एक आदमी से दूसरे आदमी ने कहा—'पता नहीं किस ग्रह का आदमी है! इस दुनियां का तो नहीं लगता. पैक अप एवरी-थिंग एंड मूव!'

और कुछ ही देर में शूटिंग करने आई टीम की गाड़ियों का काफिला पीछे धूल का गुबार छोड़ते तालाब की तरफ आते डंगरों के विशाल झुण्ड के बीच रास्ता बनाता ओझल हो गया.

फिर मैं उस गांव-बूढ़े की तरफ बढ़ा.

'राम-राम ताऊ!' उसको सैल्यूट करते हुए मैं बोला.

उसने हाथ जोड़ के मुझे राम-राम कहा.

फिर मैंने उससे कहा—'ताऊ! तू तो गरीब है. रुपए-पैसों की जरूरत ना है तुझे! बैठे-बिठाए पूरे सात हजार मिल रहे थे तुझे! डंगर थोड़े ही मरे जा रहे थे! कल सुबह चरने को जाते समय तालाब जाकर पी लेते!'

'बाल-बच्चे हैं ?'

'हां, दो बेटियां हैं,'

इस पर गांव-बूढ़ा बोला—'कल बच्चे जब स्कूल से घर लौटें, तो अपनी जोरू से कहियो कि अगले दिन स्कूल जाते टैम ही उनको खाने-पीने को मिलेगो. और फिर यहां आके मेरेकू बत्तैयो की थारी जोरू क्या कैवे है.'

लेडीज एंड जेंटलमैन! आइ वॉज शॉक्ड एंड डम-फाउंड! मैं तो अपने आपको बड़ा दयावान और संवेदनशील समझता था. परंतु इस गांव-बूढ़े के सामने मैंने अपने आपको गंगूतेली-सा महसूस किया. उसकी अलौकिक जीवन-दृष्टि ने मुझे उसका गुलाम बना दिया था. द्रवीभूत हो गया था मैं कुछ समय के लिए.

फिर कुछ पलों के बाद जब मैं सामान्य हुआ तो मैंने उससे कहा—'माफ करना ताऊ! मैंने तो यूं ही मजाक में कह दिया था. तुम तो साक्षात देवदूत निकले. तुम्हारे इस देवतुल्य आचरण से अभिभूत होकर मैं तुम्हें कुछ दक्षिणा देना चाहता हूं.' ऐसा कहते हुए मैं जेब से पांच सौ रुपए का नोट निकाल उसको पकड़ाता हूं. यकीन मानिए, उस समय ऐसा करते मुझे महसूस हुआ जैसे मैं किसी मंदिर की आरती के समय पूजा-अर्चना की थाली में दक्षिणा अर्पित कर रहा होऊं.

'अरे साब ये क्या...!' सकपकाते हुए वह बोला 'रख लो. खुशी से दे रहा हूं. अच्छा राम-राम' यह कहते उसकी पीठ थपथपाते मैं वापस एक्सरसाइज लोकेशन जाने के लिए चल पड़ता हूं.

सामने कच्ची सड़क पर डंगरों का विशाल रेला धूल उड़ाता मेरी ही दिशा में आता दिखता है. कुछ गाय-भैंसें मेरे करीब पहुंचने वाले हैं. उनके गले में बंधी घंटियों की स्वरलहरी में मंदिर की घंटियों के स्वर से कहीं अधिक मधुरता और सुकून मुझे महसूस होता है. डंगरों के पीछे अलमस्त किशोर ग्वाले भी गुनगुनाते खेलते चल रहे हैं. डंगरों को निर्बाध रास्ता देने के लिए मैं सड़क के किनारे खड़ा हो जाता हूं.

अपने टैंट से थोड़ी दूर पहले मैं रुककर एक बार फिर दूरबीन से तालाब की दिशा में देखने लगता हूं. वह देवदूत दूरबीन के लैंस पर मुझे अब साफ दिखने लगा है. देवदूत की छत्रछाया में अब गायें, भैंसे, बछड़े, बकरियां, भेड़ें तालाब के किनारे फैल कर पानी पी रहे हैं. कुछ भैंसे पानी के अंदर उतरकर नहा रही हैं. कुछ डंगर अभी भी कच्ची सड़क पर चलते तालाब की ओर बढ़ रहे हैं. अपने टैंट में पहुंचने पर मुझे महसूस होता है कि मेरा पीछे कुछ छूट गया है...क्या छूटा होगा—मैं खुद से सवाल करता हूं.

सो लेडीज एंड जेंटलमैन! दिस वॉज माइ अनफॉरगेटेबल एंड मोस्ट इंसपिरेशनल एक्सपीरिएंस ऑफ माइ लाइफ. इस घटना ने मुझे एक तरह से जगा दिया और मुझे सम्यक ज्ञान, दर्शन और सम्यक चरित्र को जानने को प्रेरित किया. तब से अब तक वह देवदूत फुर्सत के लम्हों में आकर गाहे-बगाहे मुझे पोल-स्टार के मानिंद जीवन-पथ का दिशा ज्ञान कराता रहता है. कैसा लगा आपको मेरा ये अनुभव!

करतल ध्वनि से लॉन कुछ देर तक गूंजता रहा. कइयों ने कुर्सियों पर बैठे-बैठे बोला—'सिंपली ग्रेट!, 'वेरी इंसपाइरिंग!' 'साउंड्स अनबिलिवेबल बट ट्रू !'

मेजर रमेश तिवारी ने स्टेज की दीवार से सटा कर रखी पेंटिंग उठाई और गोल्डन रैपिंग पेपर को निकालते हुए पेंटिंग को दर्शकों की ओर उन्मुख किया.

'देखिए! ये पेंटिंग उसी जगह की है. ये पेंटिंग मैंने तभी से बनानी शुरू कर दी थी जब मुझे स्कूल की गोल्डन जुबली में आने का इनविटेशन-कार्ड मिला था. यह पेंटिंग गेस्ट हाउस के डाइनिंग-हॉल में लगाई जाएगी. और डाइनिंग हॉल में अंदर जाकर आप इसे दीवार में टंगा देख सकते हैं' यह कहकर उसने पास खड़े वेटर को पेंटिंग डाइनिंग हॉल में बताई गई जगह पर लगाने को कहा.

'एंजल ऑफ द लेक!' सामने ही बैठी उसकी दोनों बेटियां पास से वेटर द्वारा पेंटिंग को ले जाते देख बोलीं.

मेजर तिवारी स्टेज से नीचे उतरने लगे.

'हाउ डू यू नो लिटिल स्वीट गर्ल्स?' बगल में बैठे एक ओल्ड-बॉय ने बेटियों से पूछा.

'पापा हैज टोल्ड अस एबाउट द स्टोरी ऑफ एंजल ऑफ द लेक मैनि टाइम्स' दोनों बेटियां लगभग एक साथ बोल पड़ी.

कुछ ही देर में डिनर के लिए सब डाइनिंग हॉल की तरफ चल पड़े.

सबसे पीछे चलते हुए मेजर तिवारी ने एक महिला को अपने पति से कहते सुना-'दैट फैलो सो कॉल्ड एंजल वॉज स्टुपिड. सो प्रिमिटिव...ए बैगर लाइक नीड्स एंड डिजायर्स...'

'डज इट मैटर? एट लीस्ट ही वॉज कंटेंटेड एंड सैटिसफाइड. इन फैक्ट इन ए स्टेट ऑफ ब्लिस. बैटर दैन मैनि ऑफ अस...' यह उसके पति की आवाज थी.

डाइनिंग हॉल की दीवार पर पेंटिंग लग चुकी थी. पेंटिंग में तीन साइड से जंगल से घिरे एक तालाब का दृश्य था जिसके किनारे फैले डंगरों का विशाल समूह पानी पी रहा था. कुछ डंगर कच्ची सड़क पर चल रहे थे. उनके पीछे ग्वाले. बरगद के पेड़ के नीचे हाथ में लाठी लिए खड़ा गांव-बूढ़ा; गांव-बूढ़ा नहीं, देवदूत पानी पीते डंगरों को देख देवत्व को प्राप्त कर चुका था. दृश्य के बैक-ग्राउंड में क्षितिज में डूबने को आतुर सूरज का लाल गोला था. डिनर को छोड़ अब सब पेंटिंग के सामने से गुजरते, रुकते पेंटिंग के नीचे लिखे 'एंजल ऑफ द लेक' टाइटल को पढ़ते उच्चरित कर रहे थे.

दूर से यह सब देखता मेजर तिवारी ट्रांस स्टेट में पहुंच गया था.

❒

महामारी, प्रकृति और सृजन

जितेन्द्र भाटिया

लेख

मार्क्वेज के 'लव इन दि टाइम ऑफ कॉलरा' की तरह कोरोना का यह समय शहरों के गुणगान का नहीं है. इन पंक्तियों के लिखे जाने तक इटली में वायरस से मरने वालों की संख्या बीस हजार तक जा पहुंची है और लाखों पीड़ितों के चलते पूरा कर्फ्यूग्रस्त विश्व एक विशाल बंदीगृह की प्रतीति देने लगा है. यह समय शायद अपने बसाए इन शहरों के अंतर्मन में लौटने का है. प्राचीन शहर, जिनकी प्रकृति से जुड़ी स्नायुओं को हमने व्यावसायिकता के दबावों में बहुत पहले काट डाला था. किसने सोचा होगा कि योरोप के सबसे सांस्कृतिक प्रदेशों पर प्रकृति एक दिन ऐसा कहर ढाएगी. महामारी में फंसे इटली के शहरों में दुनिया का खूबसूरत, अकल्पनीय शान-शौकत, नहरों, पुलों और मेहराबों में रचा-बसा, साहित्यकारों का चहेता वेनिस भी है जो अपने अतीत की महज एक क्षयग्रस्त परछाई बनकर रह गया है. यह वही शहर है जिसे समीक्षक पॉल बेली ने कभी 'अव्यवस्था के बीच से उत्कृष्टता रचने की मानवीय क्षमता का सबसे विलक्षण उदाहरण' बताया था.

दुनिया के इतिहास पर नजर डालें तो 2020 का कोरोना, 1896 के प्लेग और 1918 के स्पेनिश फ्लू की ही पुनरावृत्ति है. तब हमारे देश ने बाकी दुनिया के मुकाबले इस महामारी का सबसे क्रूर प्रहार झेला था. प्लेग की कुल 1.2 करोड़ वैश्विक मौतों में से लगभग एक करोड़ अकेले भारत में थी और स्पेनिश फ्लू की कुल 3 करोड़ मौतों में भारत की हिस्सेदारी 1.8 करोड़ बताई जाती है. 'निराला' ने तब अपने संस्मरणों में गंगा नदी को लाशों से पटा हुआ बताया था. कहा जाता है कि बीमारी में जब उनकी पत्नी और परिवार के सदस्य जाते रहे थे तो दाह-संस्कार के लिए लकड़ी जुटाना भी मुश्किल हो गया था. आज का इटली कुछ इसी तरह की त्रासदी से गुजर रहा है.

प्रकृति की न्यायिक सत्ता का एक अनोखा नियम यह है कि वह जितना लेती है, उससे कहीं अधिक हमें लौटा भी देती है. लोग कहते हैं कि महामारी के बाद हुई सफाई, मनुष्यों की तालाबंदी और प्रदूषणकारी गोंडोला नावों के थमने के बाद वेनिस की नहरों का पानी बरसों के बाद फिर से साफ दिखने लगा है, वहां मछलियां फिर से लौट आई हैं और पता नहीं कितने दशकों के बाद लोगों ने वहां हंस और प्रकृति हितैषी डोल्फिन तैरते और छलांगें लगाते देखे हैं. महामारी के बीच प्रकृति की यह करवट शायद हमें अपने आडंबरी शहरी जीवन पर पुनर्विचार का संदेश देती है.

पुलों और मेहराबों तले वेनिस के पानियों से गुजरना कहीं अपने समय की सबसे समृद्ध साहित्यिक परंपरा से रूबरू होना भी है. शेक्सपियर (मर्चेंट ऑफ वेनिस और ओथेलो) से लेकर थॉमस मान (डेथ इन वेनिस), हेनरी जेम्स (दि एस्पेर्न पेपर्स), अर्नेस्ट हेमिंग्वे (अक्रॉस दि रिवर एंड इनटू दि ट्रीज), जोजफ ब्रोड्स्की (वाटरमाकं) और विख्यात संगीतकार विवाल्दी (फोर सीजंस ओपेरा) तक कोई भी इसके जादू से अछूता नहीं रह सका है. और इन सारे दिग्गजों के साथ एक और नाम इतालवी कथाकार-चिंतक, भविष्यवक्ता और 'इनविजिबल सिटीज' के रचयिता इटालो काल्विनो का भी है जो वेनिस की विलक्षण संरचना को प्रख्यात यात्री मार्को पोलो की यात्राओं के जरिए व्यक्त करते हैं.

कहानी और उपन्यास से इतर यदि पिछली सदी के सर्वश्रेष्ठ गद्यकारों की विश्वव्यापी फेहरिस्त तैयार की जाए तो उसमें किसी भी दृष्टि या नजरिए से चार नामों को छोड़ पाना बेहद मुश्किल होगा. मेरे अनुसार ये नाम हैं, रूस के ओसिप मेंदल्श्ताम, अर्जेंटीना के जोर्जी बोर्खेज, जर्मनी के वाल्टर बेंजामिन और इटली के इटालो काल्विनो. दिलचस्प यह है कि इस सूची में अंग्रेजी भाषा का एक भी लेखक नहीं है और यह भी कि इनमें से दो, गद्यकार के अलावा कवि भी हैं. इतालो काल्विनो ने मेरी जानकारी में कभी कविता नहीं लिखी, लेकिन फिर भी उनके बहुत से गद्य को कविता से जुदा कर पाना कठिन होगा. कवियों का सघन गद्य अपनी बुनावट के कारण अक्सर आसानी से पहचान में आ जाता है. इसमें कथा की अपेक्षा दृश्य अथवा विचार का बाहुल्य होता है. इस दृष्टि से काल्विनो का बहुत सारा लेखन हमें गद्य अथवा कहानी/उपन्यास की अपेक्षा कविता के अधिक निकट महसूस होता है. समीक्षकों ने काल्विनो के बहुत सारे लेखन को 'गद्य कविताओं' की संज्ञा दी है.

यूं तो काल्विनो को 'हमारे पूर्वज', 'कोस्मोकॉमिक्स', 'इफ ऑन ए विंटर नाइट ए ट्रैवेलर', 'अगली सदी के लिए छह स्मृति लेख' आदि अनेकानेक कथा और

गद्य रचनाओं के लिए याद किया जाता है, लेकिन 'इनविजिबल सिटीज' शायद उनकी सबसे सम्मोहक गद्य रचना है जिसे कुछ लोग उपन्यास मानते हैं तो कुछ और 'अविकल कवितामय गद्य' का उत्कृष्ट उदाहरण, जिसमें अंतर्दृष्टि और फंतासी सहज भाव से एक दूसरे में गुंथी हुई महसूस होती है. पाठक के लिए शायद तय करना मुश्किल हो कि यह उपन्यास है, कहानी संग्रह अथवा यात्रा-वृत्त, या कि महज विचारों, मरीचिकाओं और कल्पनाओं का एक पुरअसरार रंगीन मोजेक. देखा जाए तो यह कृति फंतासी, विज्ञान-कथा या जादुई यथार्थ के किसी भी तयशुदा ढांचे में फिट होने से इनकार करती है. प्रसिद्ध लेखक गोरे विदाल इसे काल्विनो की सबसे खूबसूरत किताब मानते हुए कहते हैं कि इसमें रचनाकार 'एक' और 'अनेक' के बीच के द्वंद्व को बहुत सहजता से आत्मसात करने में सफल हुआ है.

इस पुस्तक का आधारबिंदु तेरहवीं शताब्दी में यात्री मार्को पोलो द्वारा लिखी गई डायरी 'दि डायरीज ऑफ मार्को पोलो' है. काल्विनो की रचना में मार्को पोलो को अपनी यात्राओं से लौटने के बाद मंगोलिया के सम्राट कुबला खान का निमंत्रण मिलता है कि वह यात्रा के दौरान देखे गए शहरों के बारे में बादशाह को बताए. मार्को पोलो और बादशाह के बीच के ये संवाद ही उन दोनों के बीच की अंतरंगता का आधार बनते हैं और यही इस उपन्यास की संरचना है. दृष्टव्य है कि मार्को पोलो और कुबला खान अलग-अलग भाषाएं बोलते हैं और मार्को पोलो इस सीमा की परवाह किए बगैर संवाद के हर संभव संकेत और प्रतीकों के सहारे अपनी बात बादशाह तक पहुंचाता है. किताब में लगभग कोई कथानक नहीं है और न ही इसमें पात्रों या घटनाओं का कोई विकास दिखाई देता है. बल्कि यहां कुबला खान और मार्को पोलो को छोड़कर और कोई पात्र है ही नहीं. मार्को पोलो बादशाह को अपनी यात्राओं के दौरान देखे अद्भुत और विचित्र शहरों के वृत्तांतों से सम्मोहित करता चला जाता है.

काल्विनो के ये विलक्षण और मिथकीय शहर ग्यारह समूहों में विभक्त हैं—शहर और स्मृति, शहर और लालसाएं, शहर और संकेत, इकहरे शहर, तिजारती शहर, शहर और आंखें, नामों वाले शहर, शहर और मृतक, शहर और आसमान, अंतहीन शहर और खोए हुए शहर. इन शहरों से गुजरना एक तरह से इनके ही नहीं, मानवता के वर्तमान और भविष्य से गुजरना भी है. काल्विनो के साहित्य समीक्षक पीटर वाशिंगटन का मानना है कि 'इनविजिबल सिटीज' एक खोज है, जिसमें चतुर कथावाचक हमें मानव सभ्यता की विसंगतियों तक लिए चलता है. जैसा कि कुबला खान एक जगह कहता भी है, "हमारे बीच का यह संवाद गोया कि कूड़े के ढेर को खंगालते कुबला खान और मार्को पोलो नाम के दो भिखारियों के बीच का है जो घटिया शराब के घूंटों के बीच जहाज के जंग खाए टुकड़ों, फटे लत्तों और रद्दी कागजों के ढेर लगा उनमें पूर्व के सारे अप्रतिम खजानों की चमक महसूस करते जाते हैं."

कई समीक्षकों ने इस पुस्तक में गणितशास्त्री काल्विनो की भी पहचान की है. 'इनविजिबल सिटीज' में कुल 9 अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में विभिन्न शहरों के बिंबों से पहले और इसके अंत में कुबला खान और मार्को पोलो के बीच का संवाद है. हर अध्याय की संरचना गणित की 'साइन वेव' जैसी है जो शून्य से उठकर एक लहर की शक्ल में मध्य में अपने शीर्ष तक पहुंचती है और उसके बाद फिर अंत में शून्य तक लौट जाती है. दिलचस्प यह भी है कि यदि नौ अध्यायों को समग्रता में देखा जाए, तब भी हमें उसी 'साइन वेव' की प्रतीति मिलेगी, यानी उपन्यास अपने मध्य के पांचवें अध्याय में एक तरह से फिर शीर्ष तक पहुंच जाता है.

उपन्यास की इस गणितीय प्रतीति को समझाते हुए समीक्षिका मेधा पटेल श्वार्ज लिखती हैं कि उपन्यास का काल तेरहवीं शताब्दी का है (मार्को पोलो का जन्म 1254 में हुआ था) और विश्व या इटली में लगभग यही समय उस काल के प्रसिद्ध इतालवी गणितज्ञ फाईबोनास्सी का भी है. पटेल कहती हैं कि उपन्यास की संरचना पर मार्को पोलो के साथ-साथ फाईबोनास्सी का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से महसूस किया जा सकता है. अंकों और गणित की संरचनाओं को काल्विनो अपनी कथा में रूपक की तरह इस्तेमाल करते हैं. पांचवें अध्याय में अपने शीर्ष तक पहुंचते हुए हम मार्को पोलो और कुबला खान के संवाद को एक सर्वथा नए आयाम पर देखते हैं.

मार्को पोलो एक पुल के विवरण के लिए उसके एक-एक पत्थर के बारे में बताता है.

लेकिन इनमें से कौन-सा पत्थर है जिस पर पुल टिका हुआ है?" कुबला खान पूछता है.

"यह पुल किसी खास पत्थर पर नहीं," मार्को उत्तर देता है, "बल्कि उस मेहराब की रेखा पर टिका है जिसमें सारे पत्थर लगे हैं."

कुबला खान चुपचाप सोचने लगता है, फिर कहता है, "यदि मेहराब पर ही सब कुछ टिका है, तब फिर तुम मुझे उन पत्थरों के बारे में क्यों बता रहे हो?"

पोलो कहता है, "क्योंकि उन पत्थरों के बगैर उस मेहराब का कोई वजूद नहीं है!"

मेहराब के रूपक में गोया कि काल्विनो 'इनविजिबल सिटीज' के स्थापत्य में एक-एक पत्थर के महत्त्व को समझा रहे होते हैं. और इससे आगे छठे अध्याय के

आरंभ में कुबला खान जब मार्को पोलो को वेनिस शहर के बारे में घेरकर पूछता है.

पौ फटने को थी जब मार्को पोलो ने कहा, "जहांपनाह, अब मैं आपको उन सभी शहरों के बारे में बता चुका हूं, जिन्हें मैंने अब तक देखा है!"

"लेकिन फिर भी एक शहर ऐसा है जिसका जिक्र तुमने अभी नहीं किया है!"

मार्को पोलो ने अपना सिर झुका लिया.

"वेनिस!" कुबला खान ने कहा.

मार्को मुस्कराया. "तो फिर अब तक इतनी देर से मैं आपको और किसके बारे में बता रहा था?"

सम्राट ने कोई आश्चर्य नहीं दिखाया. "लेकिन फिर भी मैंने कभी तुम्हारे मुंह से उसका नाम नहीं सुना."

पोलो बोला, "हर बार आपको किसी भी शहर के बारे में बताते हुए मैं दरअसल वेनिस के बारे में ही कुछ बता रहा होता हूं!"

"मैं चाहता हूं कि जब मैं दूसरे शहरों के बारे में पूछूं तो तुम उन्हीं के बारे में बताओ. और वेनिस के बारे में पूछने पर तुम वेनिस के बारे में बताओ!"

"दूसरे शहरों के गुणों में फर्क समझाने के लिए मुझे उस पहले शहर की ओर लौटना पड़ता है जो सब में अंतर्निहित है. मेरे लिए वह वेनिस है."

"तब फिर तुम्हें अपना हर यात्रा-वृत्तांत प्रस्थान से आरंभ करना चाहिए, ताकि पूरा वेनिस कैसा है, उसके बारे में हर चीज जो तुम्हें याद है, कुछ भी छोड़े बगैर बताई जा सके."

झील की सतह पर महीन झुर्रियां थीं, जिसमें प्राचीन महल सुंग की तांबाई परछाईं तैरती पत्तियों की तरह हजारों चमकदार किरचों में विभक्त हो गई थी.

"मेरी स्मृति के चित्र शब्दों में ढलने के साथ ही मिटने लगते हैं," पोलो ने कहा, "मुझे डर लगता है कि उसके बारे में बोलकर मैं कहीं समूचे वेनिस को एक साथ पूरा ही खो न डालूं. शायद दूसरे शहरों के बारे में बताकर मैं पहले ही उसे थोड़ा-थोड़ा खो चुका हूं."

और कुबला खान या मार्को पोलो के साथ-साथ इन विवरणों में कहीं हम भी अपने-अपने शहरों के उस 'वेनिस' को तलाशने लगते हैं. या कि हम ढूंढते हैं अपने सपनों का वह अप्राप्य शहर, जो है भी और नहीं भी है. 'इनविजिबल सिटीज' वेनिस ही नहीं, दुनिया के तमाम शहरों का अंतर्मन है, जिसमें लेखक अपनी साहित्यिक पहचान के साथ आठ, एक गणितज्ञ, एक वास्तुविद, पर्यावरणशास्त्री और इन सबसे आगे एक भविष्यवक्ता भी है.

आज के मुश्किल समय में 'इनविजिबल सिटीज' को याद करना अपने वर्तमान और भविष्य को समझना ही नहीं, उससे सबक लेना भी है.

❐

संपर्क : मो. : 9324223043

ईमेल : jb.envirotekindia@gmail.com

लघुकथा

पच्चीस साल बाद

लता कादम्बरी

शादी की पच्चीसवीं सालगिरह पर दोनों ने गोवा जाने का प्रोग्राम बनाया, इस बीच से उस बीच तक टहलते हुए कब तीन दिन निकल गए पता ही न लगा. जैसे अभी-अभी उनकी शादी हुई हो और वो हनीमून पर गोवा आए हों.

रात के समय, बागा बीच में घूमते हुए वे एक पब से दूसरे पब तक बेफिक्र होकर टहलते रहते. कभी फिशपैडीक्योर करवा लेते और कभी हल्के नशे का आनन्द लेते हुए दोनो बांहों में बांहें डाले कैसीनो खेलने चले जाते. शाम होते ही, चलती नर्म हवाएं उन्हें एक अलग ही रोमानियत से भर देतीं और चांदनी रात में समुद्र से उठती-गिरती लहरों में वे दोनों अपनी सुधबुध खोए आधी रात तक पब में मस्ती करते रहते.

एक दिन पति ने बड़े रोमांटिक अंदाज में पत्नी से अपने शरीर पर टैटू बनवाने के लिए सहमति मांगते हुए कहा, 'बताओ, प्रिय! तुम्हारे नाम का टैटू मैं अपनी बांहों पर बनवाऊं या फिर सीने पर ?

यह सुन पत्नी की रोमानियत उसके चेहरे से गायब हो गई, सहज चंचलता भी न जाने कहां उड़ गई और उसकी जगह पर एक धीर-गंभीर खड़ी गृहणी कह रही थी,. 'गौरव अगर संभव हो तो पच्चीस सालों के बदले मेरा नाम तुम प्रापर्टी के कागज पर लिखवा दो ताकि बचा हुआ जीवन मैं तुम्हारे साथ असुरक्षा के दायरे से निकलकर सुखपूर्वक जी सकूं.'

यह बात सुन पति कुछ सकपकाया, उस वक्त उससे कुछ बोलते नहीं बन रहा था.

पति को दुविधा में देख बड़े प्यार से उसके बालों को सहलाते हुए वह बोली, 'जवानी के पच्चीस सालों के बदले अपने रहने के लिए एक मकान की चाहत करना क्या बहुत ज्यादा है?

पति अभी भी न जाने किन ख्यालों में गुम था.

❐

संपर्क : 7/202, स्वरूपनगर, कानपुर (उ.प्र.)

मो. : 7607345678

ईमेल : info@kadambarijewellers.com

कहानी

वेइंग मशीन पर खड़े मिस्टर जॉन

•

प्रकृति करगेती

जन्म : 16 मार्च 1991
शिक्षा : स्नातक (दिल्ली विश्वविद्यालय).
कृतियां : 'शहर और शिकायतें' कविता संग्रह).
कविताएं और कहानियां विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. 2015 में कहानी 'ठहरे हुए से लोग' के लिए 'राजेन्द्र यादव हंस कथा सम्मान' से सम्मानित.

संपर्क : मो. : 9833294817
ईमेल : prakriti7@gmail.com

मैं एक सवाल से घिरी रहती हूं अक्सर कि सभी चीजें अच्छी मंशा के साथ ही शुरू होती हैं या हमें बस जताया जाता है कि उनके पीछे की मंशा अच्छी ही थी. हम सड़ रही चीजों को फेंकने से पहले उनका इतिहास याद करते हैं. जैसे वो कोई टमाटर हो. आपका नहीं पता पर मैं सड़े टमाटरों को फेंकने से पहले जरा सोचती हूं. शोक जरूर मनाती हूं कि अच्छा खासा छांट के लाई थी, कितना महंगा था तब भी लाई और फिर फेंक देती हूं. पर मुझे इस बात पर गर्व रहा कि ऐसा मैं सिर्फ टमाटरों के साथ करती थी. पर आज ऐसी भी बहुत सी चीजें हैं जिनके साथ ऐसा नहीं होता. बल्कि उनके सड़ जाने के बावजूद उन्हें सजाकर रखा जाता है ताकि आसपास की हर चीज सामूहिक तौर पर सड़ जाए.

मैंने भी एक बार खुद को ऐसी ही सड़न के बीचोंबीच पाया था. अब मैं ये नहीं कह रही कि इस घटना/दुर्घटना के मुख्य पात्र, भाईसाहब ही वो सड़न हैं. बल्कि मैं तो खयाली सड़न की बात कर रही हूं जिसकी बदबू नहीं आई मुझे. इसलिए तो मैं खुद चलकर गई थी उस तक. अनजाने में.

अब बताओ ये भी कोई बात हुई कि कोई सामने आकर आपसे बात करने की कोशिश करे और आप टालमटोल मचा के आगे निकल जाओ. मेरी और भाईसाहब की बात इसी असंवेदना से बचने की कोशिश में हुई थी. मैं वैसे बातूनी हूं पर बड़ी सेलेक्टिव भी हूं. पर वो भाईसाहब ऐसी किसी खामी का शिकार नहीं थे.

रामनगर शहर से मेरी शिद्दत भरी नफरत का रिश्ता पुराना है. यहां का नीरस स्टेशन वही स्थल है जो मुझे मेरी गांव की हरियाली से शहर के मलबों तक पहुंचाता है. बचपन से आजतक. तब तो खैर कॉलेज के सुहाने दिन तारी थे, तो मेरी नफरत जरा कम गाढ़ी थी. पर थी फिर भी. रामनगर से मेरी इसी नफरत को लेकर बात शुरू

हुई थी. हम दोनों स्लीपर के यात्री थे, इसलिए हमें कोई 'वेटिंग रूम' उपलब्ध नहीं था, जहां मल त्यागने की सुविधा भी मुहैया हो. भाईसाहब का बेटा अभी-अभी, प्लेटफार्म के दूर किसी कोने में यह क्रिया करके आया था. भाईसाहब मेरे बगल में बैठते हुए, इसी बात पर स्टेशन, शहर, व्यवस्था और न जाने किस-किसको कोस रहे थे. मैंने भी अपनी टिप्पणियों से थोड़ी गार्निशिंग करी. और करते ही पछताई भी कि जिस बात पर बस मुस्कुराकर हामी भरकर काम चलाया जा सकता था, उस पर मैंने अपने उच्चकोटि के विचार क्यों जाहिर किए. धत्त तेरे की! अब तो वो शायद मेरी पूरी कुंडली निकालना चाहें! इस विचार से शायद की परत हटाते हुए उन्होंने वैसा ही कर भी दिखाया.

'तो, कहां से हो', उन्होंने पूछा. 'यहां से कुछ दूर एक गांव पड़ता है, बासोट. वहां से.' ये कहते हुए मैं फोन में लग गई. मेरी बात न करने की इच्छा को शायद वो भांप नहीं पाए खुद ही बोल पड़े. 'मैं भी यहां का ही हूं.'

मैंने कहा, 'हम्म्मम्म'. बाकायदा सर भी हिलाया. फिर वो बोले, 'तुम ज्यादा बात नहीं करती.' मैं मुस्कुरा दी. भाव था, 'चलो! समझ गए आखिरकार.' पर वो फिर भी बोल बड़े, 'खैर, वो छोड़ो. तुम्हें एक चीज दिखाता हूं.'

और इस तरह उनकी बातूनी बेड़ियों ने मुझे पूरी तरह जकड़ लिया.

उन्होंने अपना लैपटॉप खोला और एक पीपीटी दिखाने लगे. अपनी कंपनी के लिए उन्होंने जो प्रेजेंटेशन बनाया था वो दिखा रहे थे. पता भी नहीं चला और उन्होंने मुझे अपना कार्ड भी थमा दिया. चन्द्रमोहन उप्रेती, सीनियर मैनेजर, फलाना ढीमकाना कंपनी. मैं समझ चुकी थी कि मैं उनके लिए उनकी प्रयोगशाला की चुहिया हूं, जिस पर उस पीपीटी का ज्ञान परखा जाएगा.

अब चुहिया को बोलना आता नहीं है, इसलिए बिना मेरी अनुमति लिए प्रयोग शुरू हो गया.

भाईसाहब जिस कंपनी में काम करते थे, उसी कंपनी के लिए एक पीपीटी था. कॉर्पोरेट और पीपीटी का तो चोली-दामन का साथ है, ये मुझे थोड़ा-थोड़ा पता था. कॉलेज में भी हम इस दिव्य-प्रोग्राम का इस्तेमाल बहुत बार करते थे. सीधे-सीधे अपनी बात कहने में वो बात कहां, जो पीपीटी के साथ कहने में आती है. वजन बढ़ जाता है बात का.

पर सच कहूं तो...भाईसाहब का बनाया हुआ पीपीटी देखकर मुझे बस एक ही बात याद आ रही थी, "अरे, इससे अच्छा तो मैं ही बना लेती." अब आप माने न माने, पर पीपीटी का एक सत्य है. वो यह कि पीपीटी बनाना अपने आप में एक कला है. पर भाईसाहब ने इस कला का प्रदर्शन बिलकुल नहीं किया था. उन्होंने शीर्षक के नीचे बस बुलेट-पॉइंट्स में चीजें लिख दी थी. पर अच्छी बात यह थी कि वो बात करने में सक्षम थे. सो मैं उनके जाल में फंसी.

फिर पीपीटी के बीच एक स्लाइड आई. उसके आते ही वो रुक गए. और ऐसे रुके जैसे समय को रोकने की इच्छा रखते हों. उस स्लाइड की प्रस्तावना में तीन चार वाक्य कहे ताकि मेरा पूरा ध्यान उनकी बात पर केंद्रित हो जाए. मैं तो हिपनोटाइज हो भी जाती पर भला हो उस एक ट्रेन रद्द होने की घोषणा का कि मैं चेती ही रही.

वैसे स्लाइड का शीर्षक बड़ा मजेदार था : वेइंग मशीन पर खड़े मिस्टर जॉन. भाईसाहब ने मेरी उत्सुकता भांप ली होगी शायद. उन्होंने उस फलसफे वाली स्लाइड को विस्तार से समझाना शुरू किया.

"दफ्तर से पहले सबवे स्टेशन पर लगी वजन तोलने की मशीन पर मिस्टर जॉन रोज खड़े होते थे. कॉइन डालने के बाद मिस्टर जॉन थोड़ा इंतजार करते. थोड़ी ही देर में मशीन से एक गत्ते का टुकड़ा निकलता था. जिस पर वजन लिखा होता था. पर मिस्टर जॉन को अपना वजन जानने में कोई दिलचस्पी नहीं रहती थी. वो तो गत्ते के टुकड़े को उलटकर देखते थे, जिस पर हमेशा एक संदेश लिखा होता था. "मुस्कुराते रहना. दिन अच्छा जाएगा." मिस्टर जॉन देखते ही मुस्कुरा जाते और दफ्तर की ओर निकल जाते.

मैं मिस्टर जॉन की ये कहानी सुनकर मुस्कुरा रही थी कि कितनी प्रेरणादायक कहानी है. और भाईसाहब भी बड़े जुनून के साथ कहानी को आगे बढ़ा रहे थे.

तो...

"ऐसा करते-करते उनकी नौकरी के तीस साल गुजर गए. जब मृत्यु हुई, उसके बाद उनकी वसीहत पढ़ी गई. उनकी बची-खुची कमाई, जो बहुत ही कम थी, वो तो बच्चों में बंट गई. पर एक और चीज थी, जिसे बंटना था. 30 साल से करीबन हर दिन इकट्ठा किए हुए वो गत्ते के टुकड़े जिनकर लिखा था—वजन 95 किलोग्राम, और मुस्कुराते रहो. दिन अच्छा जाएगा."

अब इस कहानी के अंत के कई प्रारूप मेरे दिमाग में चल रहे थे. पर अंत एक ही था, जो भाईसाहब ने सुनाया :

"मिस्टर जॉन के बच्चों ने गत्ते के टुकड़ों को बड़े गौर से देखा. गहरी सांस ली.

और वकील से कह दिया कि उन्हें वो टुकड़े नहीं चाहिए. बल्कि इतना ही नहीं. उन्होंने उसी वक्त वो टुकड़े पास के कचरे के डब्बे में भी फेंक दिए."

मेरी कल्पना में गत्ते के टुकड़े, गिरने की आवाज करे बिना गिरे. मैंने उन्हीं टुकड़ों से तो महल बनाया था.

भाईसाहब जो अब तक हाव भाव पढ़ पा रहे थे मेरे, उन्होंने बिना मेरी आहत भावनाओं की कद्र करते हुए आगे कहा, "इसीलिए मैं अपने साथ काम करने वालों को यही बताता हूं कि मिस्टर जॉन नहीं बनना है. मुस्कुराने भर से दुनिया नहीं चलती. पैसे कमाओ. ट्रेन पकड़कर दफ्तर मत जाते रहो, बल्कि जगुआर जैसी कार लेने के सपने रखो और पूरा करो."

अब इस कहानी के अंत का सकारात्मक पहलू ये था कि ये उनकी पीपीटी की आखिरी स्लाइड थी. बल्कि मैं कहना चाहूंगी आखिरी और विस्फोटक. इसलिए, मैं खुद को संभालने के लिए चाय लाने उठी. औपचारिकता में मैं उनसे जरूर पूछती कि "आपके लिए कुछ लाना है?" पर मैंने मन ही मन उन्हें कटाक्ष किया, "इससे अच्छा पैसे बचाकर मैं जगुआर लेने के सपने देखूं हुंह!" सामने भाईसाहब का बेटा खेल रहा था. वो मेरी तरफ देखकर मुस्कुराया. आम तौर पर जब बच्चे ऐसा करते हैं, तो मैं उन्हें अजीबोगरीब मुंह बना चिढ़ाती हूं. प्यार में. पर उस समय, मुझसे ऐसी कोई मिथ्या नहीं हो पाई. मेरे चेहरे पर बस एक ही भाव था : "सबके सब डूबकर मर क्यों नहीं जाते."

जब चाय लेकर वापस आई तब भाईसाहब लैपटॉप पर ही काम करते मिले. मैंने गर्म चाय फूंकते हुए कनखियों से देखा. इस बार स्लाइड का शीर्षक था, 'घर बैठे-बैठे मार्था बनी मिलियनेयर'. मैंने चाय का एक गर्म घूंट पिया और उनसे पूछा, "आपने कहां से एम.बी.ए. की है?"

अब उन्होंने इस बात का क्या जवाब दिया ये इतनी जरूरी बात नहीं रही. जरूरी तो अब कुछ भी नहीं रहा. क्योंकि जिस सड़न की मैं बात कर रही थी, वो सड़न अब मुझसे भी आती है.

मैं रात के 11 बजकर 8 मिनट पर कहानी के शायद आखिरी पड़ाव पर हूं. डेस्क पर बैठी हूं. लैपटॉप पर काम कर रही हूं. फोन भी पास ही पड़ा है. अभी-अभी फोन में एक मेल की नोटिफिकेशन आई है. नौकरी डॉट कॉम से है. अक्सर इसी वक्त आती है. और आज पहली बार मुझे शायद यह समझ आया है कि ऐसी मेल का इसी समय आने का क्या मतलब होता है. शायद कोई जानता है कि हम अपनी-अपनी नौकरियों से खुश नहीं है. हम हर रात यूं ही निपट अकेले होते हैं, यही सोचते हुए कि 'फ्राइडे कब आएगा?' या बॉस की डांट या सहकर्मी के ताने दिमाग में गूंज रहे होते हैं. हम बदलाव चाहते हैं. पर उस वक्त बस करवट ही बदल पाते हैं. बीच में इस मेल का आना और इसमें सैलरी पैकेज : 10 लाख, ये लिखा होना हम में ये कुलबुलाहट पैदा करता है कि हमें रेस में दौड़ते रहना है ताकि हम मिस्टर जॉन की तरह ही कहीं वेइंग मशीन पर ही न खड़े रह जाएं.

❒

कोरोना : एक कामगार बस्ती से रपट

अनूप हल्दर

यह स्तंभ दिल्ली और आसपास की कामगार बस्तियों के तरुण-युवा लेखकों की प्रतिनिधि रचनाएं आप तक पहुंचाएगा. ये लेखक और इनका लेखन बने-बनाए खांचों में नहीं समाते. 'घुसपैठिये' स्तंभ के लेखक अभी-अभी जवान हुए हैं या हो रहे हैं. एकाध को छोड़कर इसके सभी संभावित लेखकों की उम्र 20 वर्ष के अंदर ही है लेकिन इन सबमें कुछ सामान्य विशेषताएं भी हैं. सभी की आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि लगभग समान है. इससे भी बड़ी विशेषता यह है कि इनके लिए बचपन की किताबें कागजों से उतनी नहीं बनती हैं जितनी उनके संघर्ष, मोहल्लों, माहौल और जगह से बनती हैं. उनकी लिखाई में वे जगहें आपको सुरक्षित मिलेंगी. आप शायद महसूस करें कि साहित्य के उत्पादक और उपभोक्ता, अभिलेखन/रिकॉर्डिंग और सृजन, किस्सा और तथ्य के बीच के अंतर यहां धुंधले पड़ जाते हैं.

साहित्य के सुरक्षित-आरक्षित डिब्बे में घुस आए इन घुसपैठियों को आप कैसे बरतेंगे, यह आप ही को तय करना है.

घुसपैठिये

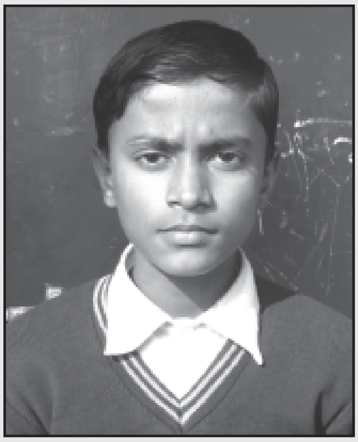

अनूप हल्दर

जन्म : 27 सितंबर, 2001
पिछले 9 सालों से अंकुर किताबघर के नियमित रियाजकर्ता हैं. इनका एक रिपोर्ताज, जल-विद्रोह के नाम से हंस में छप चुका है.
पता : बी-883, सावदा-घेवरा, जे.जे. कॉलोनी, दिल्ली-110081
मो. : 9651088602.

मौत कभी कहकर नहीं आती, पर भारत में इसने अपने आने की पूर्व-सूचना बाकायदा कुंडी खटकाकर, दरवाजे पर दस्तक के साथ दी थी. अब बात हम पर आ टिकी है कि हम दरवाजे के पीछे कितनी आलमारी, मेज, तख्त ठेल पाते हैं और मौत से खुद को बचाने के कितने उपाय कर पाते हैं.

विश्व भ्रमण पर निकली कोरोना वायरस के फूलों से दिखते पैर भारत में पहले ही पधार चुके थे पर प्रशासन की चूक और जनता की लापरवाही से अब यह पैरों में घुंघरू बांध, मौत का तांडव करने को तैयार है. इस सरगर्म माहौल में इंतजामात के तौर पर सरकार द्वारा राष्ट्रव्यापी तालाबंदी घोषित की गई है.

सावदा-घेवरा जे. जे. कॉलोनी में भी इस राष्ट्रव्यापी तालाबंदी के अंतर्गत सभी गतिविधियां आधिकारिक रूप से ठप्प हैं. कॉलोनी की लाइफलाइन कही जाने वाली मुख्य सड़क को बैरिकेड से घेर दिया गया है, लोगों की आवाजाही प्रतिबंधित है, हर मोड़ और चौराहे पर पुलिस या जवानों की मौजूदगी है, कॉलोनी का दिल यानी मिलन चौक, जहां दिन के हर पहर लोगों का तांता और ठेले, साइकिल, बस, रिक्शों का जमावड़ा हुआ करता था, आज भीषण गर्मी की तपती दोपहरी की भांति वीरान पड़ा है.

बस स्टैंड जहां सुबह शाम आते-जाते कामकाजी लोगों का हुजूम उमड़ा करता था, वह भी आज निर्जन खड़ा है. हालांकि अभी भी दो-चार लोग उसे सांत्वना देते हुए बस की राह देखते बैठे अक्सर दिख जाते हैं और अंततः उनका यह प्रयास भी तब असफल हो जाता है जब बिना कर्फ्यू-पास के उन्हें बस में यात्रा की अनुमति नहीं मिलती और झुके हुए कंधों के साथ उन्हें बस स्टैंड को अकेला छोड़ उल्टे कदम अपने घरों को लौटना पड़ता है.

पुलिस की पीसीआर वैन लगातार अब कॉलोनी की सड़कों और चौराहों पर पेट्रोलिंग करती नजर आ रही है, लोगों से यह अपील करते हुए कि कृपया सभी अपने घरों में ही रहें. बाहर न निकलें. लॉकडाउन के नियमों का पालन करें. इस दरमियां, लोगों को कोरोना महामारी की भयावहता का एहसास कराने के लिए वे लगातार लाउडस्पीकरों से कोरोना संक्रमितों और उससे मरने वालों की संख्या भी बराबर बता रहे हैं. ऐसे मौकों पर वे अमेरिका, इटली और स्पेन का उदाहरण

देने से भी नहीं चूक रहे हैं जहां स्थिति व्यापक रूप से बदहाल है. अमेरिका जो एक विकसित देश होने के साथ ही विश्व-शक्ति होने का गौरव रखता है, वहां भी कोरोना ने आफत मचा रखी है, संक्रमित लोगों की संख्या वहां साढ़े छह लाख तक पहुंच चुकी है और तीस हजार से भी ज्यादा लोगों की मौत हो चुकी है. वहीं इटली, जो मेडिकल के क्षेत्र में दूसरे पायदान पर आता है, ने भी इस महामारी के सामने घुटने टेक दिए हैं और वहां भी इससे मरने वाले लोगों की संख्या बीस हजार के आंकड़े को पार कर चुकी है.

पुलिस के लाउडस्पीकरों से उद्घोषित ये आंकड़े और तथ्य लोगों को यह समझाने में बहुत हद तक सफल रहे कि लॉकडाउन की अवहेलना और कोरोना को हल्के में लेने की क्या कीमत चुकानी पड़ सकती है. उक्त आंकड़ों को मद्देनजर रखते हुए मैं इन देशों की मौजूदा स्थिति के बारे में सोचता हूं. वे संसाधनों के विपुल भंडार, उन्नत प्रौद्योगिकी, आधुनिक अस्पताल और शिक्षित जनता के समूहों के बावजूद इस महामारी की विभीषिका को झेल रहे हैं.

ऐसे में यहां की सरकार द्वारा दिए जाने वाले सभी आश्वासन और दावे मुझे बहुत ज्यादा नहीं लगते हैं. जब विकसित से विकसित देश भी इस महामारी की चपेट में आकर तिलमिला रहे हैं फिर हम कैसे यह दावा कर सकते हैं कि हम कोरोना वायरस से लड़ने के लिए तैयार हैं. आजादी के 73 वर्षों के बाद भी आज गांव-देहात के हमारे परिजनों को सामान्य इलाज के लिए भी शहरों की ओर दौड़ना पड़ता है. इतने वर्षों में भी वहां कोई मुकम्मल अस्पताल न बन पाया. शिक्षा के क्षेत्र में हमारा खस्ता हाल जगजाहिर है, संसाधन अपर्याप्त हैं. इससे यहां एक बात तो स्पष्ट है कि सिर्फ लोगों को घर बिठा देने से ही सरकार के दायित्वों की पूर्ति नहीं होने वाली, अभी बहुत कुछ करने को बाकी है, जरूरत है कि सरकार दूरदृष्टि का परिचय देते हुए नीतियों का निर्माण करें.

बहरहाल लाउडस्पीकरों से संप्रेषित यह सूचनाएं असरदार साबित होती दिख रही हैं. जाहिर तौर पर इसने आम लोगों के मन-मस्तिष्क को मामले की गंभीरता को समझने के लिए झिंझोड़ा है. इसी के साथ गली-मुहल्लों में इस पर चर्चाओं और गोष्ठियों का सिलसिला-सा चल पड़ा है. अक्सर इन चर्चाओं में गली वाले अपने निजी विचारों को भी सामने रखने से हिचक नहीं रहे हैं. जितनी मुंह उतनी बातें. किसी अंकल को यह सब कुछ जो घट रहा है, उसके पीछे किसी देवी का प्रकोप नजर आता है, तो किसी को ग्रहों का दोष, तो कोई समझदार इसे चीन की साजिश करार देता है तो कोई आंटी शीतला मैया को ठंडे पानी से नहलवाने का सुझाव देती हैं. वहीं मुख्यधारा के न्यूज चैनलों द्वारा इस महामारी को सांप्रदायिक रंग देने की कोशिशें भी इन गोष्ठियों में साकार होती दिखती हैं.

राशन की दुकान से हनुमान मंदिर तक सड़क किनारे सफेद रंग से समान दूरी पर एक के बाद एक कई गोले बने हुए हैं. इन्हीं गोलों में सभी लोग खड़े-बैठे नजर आ रहे हैं. निश्चित तौर पर इन गोलों का उद्देश्य लोगों के बीच बॉडी-डिस्टेंसिंग रखना ही रहा होगा, पर उसी बीच मेरी नजरों ने इस अनुशासन व्यवस्था को ताक पर रखते लोगों को खोज ही लिया. लाइन के बीचोंबीच 10-15 गोले खाली पड़े थे, जब थोड़ा गौर किया तो प्रत्येक गोलों में बड़े जतन के साथ रखे हुए ढेलों पर नजरें पड़ी, ये ढेले आपस में सोशल (बॉडी) डिस्टेंसिंग के सिद्धांत पर बखूबी अमल किए हुए थे. वहीं इन पर नजर बनाए हुए इनके मालिक लाइन से कहीं दूर आपस में झुंड बनाए देश में कोरोना के बढ़ते मामलों और उससे बचाव के उपायों पर चर्चा करने में लगे हुए थे.

इस वाकये को देख मन ही मन मुस्कुराते हुए मैंने घर की ओर अपने कदमों को मोड़ लिया. यह सोचकर भी कि घर में कौन-सा अकाल पड़ा हुआ है, बाद में छुड़वा लेंगे राशन, वैसे भी आज से तो रोज ही बंटने वाला है. पर काश मेरी मां भी ऐसा ही सोचती! बाकी कॉलोनी वालों की तरह वह भी इसी गफलत में पड़ी हुई थी कि फिर राशन मिले या ना मिले? इसी धारणा के नतीजतन राशन की दुकान पर असाधारण भीड़ थी.

घर के रास्ते में मेरी नजर मेरे कमबख्त दोस्तों पर भी पड़ी जो लाइनों में लगे थे. आम दिनों में तो वे जोड़-तोड़ करके किसी तरह मुझे लाइन में ठूस ही लेते थे पर इस बार वे भी मुझे लाचार नजरों से देखकर ही रह गए. बहरहाल जब से यह तालाबंदी हुई है, उन दोस्तों से मेरी मुलाकात सिर्फ पब-जी के बैटल ग्राउंड पर ही हो पाती है. हालांकि जोगिंदर जैसे यायावर प्रवृत्ति वाले हमारे कुछ दोस्त अभी भी कॉलोनी की गलियों में बेखौफ घूमते नजर आ जाते हैं, घर में बैठने को वे अपनी शान के खिलाफ समझते हैं.

बीते कुछ दिनों से देश और दिल्ली में कोरोना के मामलों में आई तेजी को देखते हुए स्थानीय पुलिस बल अब कॉलोनी की गलियों में भी पैदल मार्च करने लगी है. सुनने में आया है कि लगे हाथों वे खाली-पीली इधर-उधर घूम रहे लोगों की लठों से धुनाई

भी कर रहे हैं. आम लोगों में पुलिस के कारण अब भय का माहौल बनने लगा है. इसलिए जब कभी पुलिस वाले पैदल या बाइक पर सवार हो गलियों से गुजरते हैं तब सभी घरों के दरवाजे धड़ाम की आवाज के साथ एक के बाद एक बंद होने लगते हैं. गली में कुर्सी, खटिया पर बैठे धूप सेंक रहे लोग, पीढ़ी लगाए बाहर बर्तन मांजती, कपड़े धोती आंटियां, साबुन रगड़कर नहाते अंकल, सभी अपने कामकाज, कपड़े, कुर्सी, खटिया, बर्तन छोड़-छाड़ बदहवास हालत में घरों के अंदर की ओर दौड़ने लगते हैं. चारों ओर चीख-पुकार मचने लगती है. खौफजदा लोग अपने-अपने घरों में खिड़की दरवाजों की ओट से बाहर टकटकी लगाए देखते रहते हैं कि पुलिस वाले गली से गुजरे या नहीं? कुछ अपनी-अपनी छतों से भी झांकने लगते हैं और ऐसा मंजर पेश आता है मानो वे पुलिस नहीं, डाकू गब्बर सिंह के लुटेरे हों, और सावदा-घेवरा जे.जे. कॉलोनी, कॉलोनी नहीं, बल्कि रामगढ़ हो. जैसे ही पुलिस वाले लौट जाते सभी कामकाज अपने-अपने ढर्रे पर लौट आता है. नौ बाई बारह गज के खांचेनुमा घरों में भला छह-सात लोग कब तक ठुसे रह सकते हैं! यहां तो लोगों का आधा दिन घर का कामकाज निपटाते हुए गली में ही बीतता है.

कॉलोनी में अफवाहों का भी दौर चल पड़ा है. कभी सुबह चार बजे पूरी कॉलोनी इस अफवाह से सड़कों पर जगी मिलती है कि भूकंप आने वाला है. कभी खबर मिलती कि फलानी गली में फलाने की लड़की को कोरोना हो गया है. हकीकत का इनसे दूर-दूर तक का नाता नजर नहीं आता. यही तो है सावदा-घेवरा जे. जे. कॉलोनी.

❐

लघुकथा

नहले पर दहला

रविशंकर सिंह

सुबह-सुबह उपाध्याय जी को फोन आया, "हेलो सर, आप लकी परसन हैं. हमारी कंपनी में आपका नाम पुरस्कार के लिए चुना गया है."

"... तो मैं क्या करूं? उपाध्याय जी ने पूछा.

"आप कल सुबह दस बजे तक सपत्नीक मेरे ऑफिस आकर अपना पुरस्कार ले जाएं. " उधर से आवाज आई.

उपाध्याय जी के निवास से ऑफिस 30 किलोमीटर दूर था. वे झटपट तैयार होकर सपत्नीक बस द्वारा उस कंपनी के ऑफिस में पहुंच गए. वहां उनकी खूब खातिरदारी हुई. पहले उन दोनों की आरती उतारी गई, फिर शानदार सोफे पर बैठा कर उनके हाथ में गुलदस्ता देकर सम्मानित किया गया. उन्होंने देखा कि उनकी तरह और भी कई भाग्यशाली जोड़े वहां पहले से विराजमान थे. इसके उपरांत दिनभर वे लोग इंश्योरेंस की पॉलिसी के बारे में उन्हें समझाते रहे. अंत में उन्होंने बताया कि यह पॉलिसी करने के उपरांत ही वे पुरस्कार के हकदार होंगे. इतनी बात समझाने में उन्होंने सुबह से शाम कर दी.

बाहर अंधेरा घिर आया था. उपाध्याय जी को यह बात समझते देर नहीं लगी कि वे बुरी तरह उनके ट्रैप में फंस गए हैं. अब उपाध्याय जी ने अपना पासा फेंका. उन्होंने कहा, "जनाब ! आपकी पॉलिसी तो बहुत अच्छी है, लेकिन अफसोस कि मैं पैसे लेकर नहीं आया. आप लोगों ने पहले बताया होता तो मैं पूरी तैयारी के साथ आता."

कंपनी वाले ने कहा, "कोई बात नहीं सर, हमारे लोग गाड़ी लेकर आपके निवास पर पहुंच जाएंगे."

"हां, आप के लोग हमारे साथ चलें तो मैं आज ही यह पॉलिसी करवा लूंगा." उपाध्याय जी ने कहा.

कंपनी वाले कार लेकर उन्हें पहुंचाने के लिए उनके निवास तक आए. अपने घर पहुंचकर उपाध्याय जी ने एजेंट से कहा, "आप चाय पानी कुछ लेंगे?"

"नहीं सर, ऐसे ही काफी रात हो गई है. आप पॉलिसी की रकम चुकाइये और मुझे इजाजत दीजिए." एजेंट ने कहा.

उपाध्याय जी ने अफसोस जताते हुए कहा, "क्या बताऊं भाई साहब! मैंने तो सोचा था कि घर में पैसे होंगे, लेकिन आज तो घर में पैसे है ही नहीं. ऐसा कीजिए, आप कल सुबह तड़के आ जाइए. मैं बैंक से रकम निकाल कर रखूंगा. कल आपसे पॉलिसी अवश्य करवा लूंगा."

एजेंट ने कुछ नाराज होते हुए कहा, "आपने तो नाहक मेरी कंपनी का पांच सौ रुपए का पेट्रोल जलवा दिया साहब."

उपाध्याय जी ने हंसते हुए कहा, "कोई बात नहीं, पैसा तो किसी का लगना ही था. मेरा या आपका." एजेंट हाथ मलता हुआ वापस चला गया.

❐

संपर्क : सालडांगा, वरदेही रोड, पोस्ट रानीगंज,
जिला पश्चिम बर्धमान-713347 (पश्चिम बंगाल)
मो. : 9434390419/7908569540
ईमेल : ravishankarsingh1958@gmail.com

कहानी

द हैप्पी बड्डे ऑफ सुमन चौधरी

•

अंजु शर्मा

जन्म : दिल्ली
कृतियां : दो कविता-संग्रह, 'एक नींद हजार सपने' और 'सुबह ऐसे आती है' (कहानी-संग्रह) 'मन कस्तूरी रे' और 'शान्तिपुरा' (लघु उपन्यास) प्रकाशित.

संपर्क : 41 ए, आनंद नगर, इंद्रलोक मेट्रो स्टेशन के सामने दिल्ली-110035
मो. : 9873851668
ईमेल : anjuvsharma2011@gmail.com

कुछ कहानियां जीवन से जन्मती हैं और उसी के खट्टे-मीठे अनुभवों की आंच में धीमे-धीमे पकती हैं. आप इसे कहानी माने या महज एक किस्सा ये आपकी मर्जी पर है लेकिन कथाकार का दावा है कि यह कहानी एक सच्ची घटना पर आधारित है. उस रात हुआ यूं कि बड़े चौधरी के चेहरे पर विचित्र सी असमंजस की छाया डोल रही थी. वे समझ नहीं पा रहे थे कि क्या और कैसी प्रतिक्रिया दें. अब जबकि वे स्वयं तय नहीं कर पाए तो उन्होंने उसी स्थिति में बिचले चौधरी की ओर देखा और बिचले चौधरी ने अपनी दृष्टि छोटे चौधरी के चेहरे पर गड़ा दी. छोटे चौधरी के लिए ये सबसे गंभीर स्थिति थी क्योंकि उन्हें न बड़े चौधरी की प्रतिक्रिया का भान था और न बिचले चौधरी की. वे समझ ही नहीं पा रहे थे कि खुद क्या कहें. अमूमन उनका काम बहुत सरल था. उन्हें निन्यानवे प्रतिशत मामलों में सिर्फ दोनों बड़े चौधरियों से सहमति जताने भर की ही सुविधा थी.

ये प्रतिक्रिया जताने या फैसला लेने जैसे कार्य उस घर में बड़े चौधरी ही किया करते थे और छोटे चौधरी की महत्ता तभी सिद्ध होती थी जब कोई काम जानकारी के अभाव में अटक जाए क्योंकि एकमात्र छोटे चौधरी ही उस घर के स्नातक सदस्य थे जिसे लेकर वे खासा गर्व भी महसूस करते थे. जब कुछ न सूझा तो छोटे चौधरी ने भी अपनी दृष्टि परिवार की अगली पीढ़ी यानी चार भतीजों पर टिका दी और राहत की सांस ली कि गेंद अब उनके भी पाले से बाहर थी.

"सुणो हो जी, सुमन इबके अपना जनमदिन मनाना चहावै है...वो के कहवैं हैं जी...हैप्पी बड्डे..." सिर पर रखा पल्ला संभालती चौधराइन के मुंह से निकला, यही एक वाक्य था जो उस आलीशान, सजावटी ड्राइंग रूम में कुछ इस तरह गूंजा जैसे कोई कबूतर किसी आलीशान हालनुमा कमरे में गलती से घुसकर इधर उधर फड़फड़ाता डोलता है. बड़े चौधरी चाहते तो हमेशा की तरह अपने दबंग स्वर की राइफल से एक मिनट में उस कबूतर का शिकार कर सकते थे पर पेंच यहां फंस गया था कि सुमन चौधरी का विवाह तय हो चुका था और वह इस घर में चंद महीनों की मेहमान थीं लिहाजा अनायास ही इन दिनों उनकी महत्ता उस घर में कुछ बढ़ गई थी.

सुमन की इस अटपटी ख्वाहिश पर कोई प्रतिक्रिया देने का दबाव बड़े चौधरी को भीतर ही भीतर मथ रहा था लेकिन कुछ तो कहना ही था. और कुछ क्षण बाद ही सही पर उनकी प्रतिक्रिया बाकायदा आई भी.

"बावली सै छोरी...अरे के चहिए उसने...मंगाकर दे दे और के होवे सै हैप्पी बड्डे."

बड़े चौधरी ने हॉल के बाहर निकलकर दरवाजे के बाईं साइड में, गलियारे में लगे वाशबेसिन पर हाथ धोते हुए जोर से ये कहकर ठहाका लाया और तौलिए से हाथ पौंछने लगे. कहना न होगा उनके ठहाके ने माहौल की बोझिलता को कुछ हद तक कम कर दिया और जल्दी ही हाल सबके ठहाकों से गूंजने लगा. इतनी जोर के इस ठहाके की आवाज रसोई में कान लगाए खड़ी परिवार की बाकी स्त्रियों और सुमन चौधरी तक भी पहुंच गई.

अस्सी का दशक अपनी अधेड़ावस्था में पहुंच चुका था. 'म्हारी छोरियां छोरां से कम है के' जैसे जुमले तब दूर-दूर तक अस्तित्व में नहीं थे. हरियाणा के राजस्थान से लगे बागड़ क्षेत्र आकर राजधानी में बसी ये उनके कुनबे की पहली ही पीढ़ी थी. हरियाणा जब अपने शैशवकाल में था तो बिजली पानी की खासी दिक्कत थी. उन दिनों बागड़ में आने जाने के लिए कच्चे रास्तों पर ऊंट की सवारी काम आती थी. भिवानी से सिरसा तक हवा के साथ बदलते राजस्थानी टीलों के गुबार पूरे भूभाग को अपनी आगोश में ले लेते. उन हालात में आम जन के लिए दो जून की रोटी जुटाना भी भारी पड़ जाता था. जैसे तैसे दो जून की रोटी जुटती वह भी 'मोटे नाज' यानी बाजरे की. कभी लाल मिर्च कूटकर उससे खा लिया तो कभी प्याज से काम चला लिया. गेंहू की रोटी, गुड़ और खांड का स्वाद तो बटेऊ (दामाद) के आने पर ही चखने को मिलता था. चौधरी साहब का परिवार गांव का सामान्य-सा परिवार था पर उनके सपनों का विस्तार आकाश तक था और ये सपने उन्हें ज्यादा दिन रोक न सके. अपने इर्द-गिर्द दिखते ऐसे कष्टकारी जीवन से निकलने का निश्चय करके बड़े चौधरी ने फौज का रुख किया.

परिवार की आर्थिक स्थिति कुछ और सुधरी तो बाद में वे फौज की नौकरी छोड़कर एक रिश्तेदार के सहारे पर दिल्ली में आ बसे. शुरू में कुछ वक्त जरूर लगा उन्हें बड़े शहर की चकाचौंध से उबरने में पर उन्हें जल्दी ही समझ आया जिसकी लाठी होती है भैंस भी दरअसल उसी की होती है. इस कहावत पर बाकायदा अमल करते हुए और इसे जीवन का मूलमंत्र मानते हुए, बड़े चौधरी ने लट्ठ के बल को आजमाते हुए सबसे पहले एक बड़े से प्लाट पर कब्जा जमाया और वहां अपनी भैंस बांधनी शुरू कर दी जो जल्दी ही बहुवचन में बदल गई.

दूसरे नंबर के भाई को उन्होंने गांव की घर-जमीन की रखवाली के लिए वहीं बसा दिया और उनका अनुसरण करते हुए बाकी दो भाई भी दिल्ली चले आए. कुछ बाहुबल का सहारा था और कुछ उनकी दूरंदेशी और मेहनती, बेधड़क स्वभाव, कि तीनों भाइयों ने ढाई दशक में डेयरी फार्मिंग, पशुपालन से आगे बढ़कर ट्रांसपोर्ट कंपनी खोलने के बाद नई पीढ़ी के सक्रिय होने पर कंस्ट्रक्शन के काम में भी पैठ बना ली और बाकायदा बिल्डिंग मटेरियल सप्लाई करने के काम की शुरुआत कर दी. लक्ष्मी की कृपा इतनी हुई कि धन-धान्य की बारिश से निहाल था चौधरी परिवार. जल्दी ही आजू-बाजू के अन्य दो प्लाट भी उन्होंने खरीद लिए जहां उनके ट्रक खड़े होने लगे और कुछ कोठरियां उनके यहां काम करने वाले मजदूरों और नौकरों के लिए बना दी गईं.

इसी परिवार के मुखिया यानी बड़े चौधरी, चौधरी बिशम्भर सिंह की इकलौती कन्या थीं सुमन चौधरी जिनकी हैप्पी बड्डे मनाने की अटपटी और अनोखी ख्वाहिश ने परिवार को दुविधा में डाल दिया था. अब क्योंकि उस धनाढ्य और संपन्न संयुक्त परिवार की इकलौती कन्या होने का गौरव सुमन चौधरी को प्राप्त था तो पूरे परिवार की लाडली होने के वजह से किंचित सिरचढ़ी और जिद्दी हो जाने का नाहक सा भ्रम पाल बैठी थीं. उनकी मां यानी चौधराइन बिमला देवी ने सुमन की परवरिश बड़े एहतियात से की थी. वे उन्हें उड़ान के लिए 'पर' तो देती थीं पर उन्हें समय-समय पर करीने से कतरती भी रहती थीं. अब लाडली सुमन चौधरी की उड़ान के लिए एक बंधा हुआ आकाश था पर वे उस पतंग की तरह मनचाही उड़ान भरती थीं जिसकी डोर चौधराइन के हाथों में थीं.

यूं सुमन को परिवार में खूब लाड़-प्यार मिलता था पर 'चाहे बेटी कितनी भी प्यारी हो, उसे सर पे चढ़ाना ना चहिए' जैसे लोकगीत में इस परिवार का पूरा यकीन था तो तयशुदा आचार-संहिताओं के बीच लता-सी बढ़ती हुई सुमन चौधरी अपनी हदों

को जानते हुए अपने सपनों को बचा ले जाने का हुनर सीखने लगी थीं.

घर में कई नौकर चाकर होने के बावजूद, सुमन को चौधराइन ने रसोई के कामकाज में निपुण बना दिया था क्योंकि उनके हिसाब से अंततः चौका-बासन हर औरत की नियति है जिसे समय से सीख-समझ ले तो बेहतर. पढ़ाई जैसे वाहियात और बोरिंग काम में सुमन का मन शुरू से खास लगता नहीं था और वे एक साल डुबकी भी लगा चुकी थी पर चौधराइन को छोड़कर किसी को इसकी खास चिंता भी नहीं थी.

“पढ़डे-लिक्खे छोरे, आजकल छोरी भी पढ़डी-लिक्खी चहावैं सैं. इसका तै जी कती पढाई में नी लागता. बारमी (बारहवीं) तै कर ले फेर आग्गे देखी जागी.” वे अक्सर कहतीं. वैसे भी पढ़े-लिखे चौधरियों के घर की पढ़ी-लिखी लड़कियां अगर कभी आगे कदम बढ़ातीं भी तो उनके लिए दो ही रास्ते थे, या तो अमरावती से ट्रेनिंग लेकर किसी सरकारी स्कूल में पी.टी.आई. बन जाओ या फिर टीचर ट्रेनिंग कर नगर निगम के किसी प्राथमिक सरकारी स्कूल की नौकरी में खप जाओ.

इस परिवार में शिक्षा, विशेषकर लड़कियों की शिक्षा को लेकर कोई खास जागृति नहीं आई थी और सुमन खुद नौकरी के जंजाल में जी खपाने को कतई उत्सुक नहीं थी तो वे पढ़ाई को रस्म अदायगी से ज्यादा भाव कभी देती भी नहीं थी. यूं तो मां की कुशल गृहिणी बनने की ट्रेनिंग भी उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं थी पर वहां बचाव का कोई रास्ता वे लाख चाहकर भी ढूंढ़ नहीं पाती थीं.

वैसे उनका मन पढ़ाई में कुछ दिन लगा था जब घर में नए ट्यूशन सर पढ़ाने आने लगे थे. ये सिंगापुर से चौधरी साहब द्वारा लाए वीसीआर पर देखी गईं फिल्मों का असर था कि नए सर सुमन चौधरी के सपने में आकर उसके साथ ड्युएट गाने लगे थे. एक-दो बार तो सपने में बात गर्मजोशी से भरे आलिंगन-चुंबन तक भी पहुंच गई थी. वो तो ट्यूशन के पहले उन्हें बार-बार घड़ी देखकर, विशेष रूप से सजते-संवरते देख और उनका मन एकाएक पढ़ाई में ‘कुछ ज्यादा’ ही लगते देख चौधराइन की अनुभवी आंखों ने मामला भांप लिया और बाकायदा तीन महीने की फीस देकर नए ट्यूशन सर की छुट्टी करके फिर से मास्टर हवा सिंह की ट्यूशन लगा दी गई इस ताकीद के साथ कि पहले की तरह छुट्टियां ज्यादा न किया करें.

इसके बाद तो सुमन चौधरी का दिल पढ़ाई से बिल्कुल उचट गया. अधेड़ हवा सिंह की गंजी खोपड़ी, हद से ज्यादा लंबी नाक और धोती-कुरते में फंसे सींकिया शरीर से मिलकर बनी मोटू-पतलू के पतलू से मेल खाती छवि ने उनके रोमांस के पटाखे को फुस्स कर दिया था. उन्होंने कुछ दिनों के लिए अपना ध्यान छत से दिखाई देने वाले, सामने की बड़ी-सी कोठी के छत पर बने कमरे पर केंद्रित कर दिया था जहां विनेश कुमार रहता था. सुमन ने सोचकर देखा कि खाली रहने से अच्छा है मामला विनेश पर ही सेट कर लिया जाए. ख्याल सचमुच बुरा नहीं था. अब रोमांटिक सपने देखने के लिए उन्हें कोई तो चेहरा चाहिए ही था. आखिर वे कब तक ऋषि कपूर और विनोद खन्ना से काम चलातीं. लिहाजा वे शाम का करीब एक घण्टा छत पर पढ़ाई के बहाने विनेश कुमार से नैन-मटक्के में गुजारने लगीं.

वे पिछले बरस अठारह पार कर चुकी थी और उनका रिश्ता भी तय हो चुका था तो इस साल बारहवीं के पेपर देने के बाद उन्हें पढ़ाई से सदा के लिए छुट्टी मिल जाना भी लगभग तय था. खास बात यह थी कि अब उनके सपनों के लिए उधार के चेहरों की जरूरत नहीं थी क्योंकि एक स्थायी चेहरा भी उन्हें मिल चुका था जिसकी तस्वीर वे अपनी हिस्ट्री की नोटबुक में छुपाकर रखती थीं, उनका मंगेतर अनूप सिंह चौधरी. विनेश छत पर नजर आता तो वे यूं ही थोड़ी बहुत देर नजर सेंक लेती थीं पर सच यही था कि उन्हें अब विनेश में खास रुचि नहीं रह गई थी.

उन्हें कुशल गृहिणी बनाने की दिशा में अगला कदम सिलाई सेंटर में दिलाया गया जबरन दाखिला था. अब उनकी कहें तो सिलाई-कढ़ाई से कहीं ज्यादा रोचक काम उन्हें फिल्मी पत्रिकाओं से मनपसंद नायकों की तस्वीरें काटकर जमा करना लगता था. कुछ महिला-पत्रिकाओं में मनचाही ड्रेस ढूंढ़ने में भी उनका मन खूब लगता था. शुरू में उन्हें सिलाई सेंटर जाते कोफ्त होती थी पर बाद में उन्होंने इसे भी ‘तफरी’ का जरिया मानकर सरेंडर कर दिया. उन्हें बाकायदा एक गाड़ी मिली हुई थी जिसमें बैठकर वे ड्राइवर के साथ ‘सिलाई सीखने’ सिलाई सेंटर जाती थी. वहां कुछ नई सहेलियां भी बन गईं जो ‘सोसाइटी सिनेमा’ के ठीक सामने के पॉश एरिया में रहती थीं.

वहीं सुमन को एक आलीशान कोठी में रहने वाली सहेली श्वेता के जन्मदिन का न्यौता मिला जो उसी सिलाई सेंटर में ऑयल पेंटिंग सीखने आती थी और सुमन से उसकी अच्छी दोस्ती हो गई थी. वैसे भी ये पॉश एरिया में रहने वाली स्टाइलिश लड़कियां सुमन चौधरी को बहुत आकर्षित करती थीं. उन नई सहेलियों के साथ से सुमन के सपनों को नई दिशा मिली. यहीं सुमन चौधरी के ‘ज्ञान’ में कई इजाफे हुए. जैसे यहीं उन्होंने जाना था कि परदे पर दिखाई देने वाली हीरोइन का खूबसूरत चेहरा और घुंघराले बाल दरअसल प्राकृतिक नहीं बल्कि ब्यूटी पार्लर में ब्यूटीशियन की घंटा भर की मेहनत का नतीजा होते हैं जिसे कोई भी हासिल कर सकता है. इस खुलासे से तो सुमन की आंखें खुली की खुली रह गई थीं. वे तो खामखाह फिल्म हीरोइनों के मुकाबले अपने सामान्य चेहरे और सीधे सपाट बालों को देखकर हीनभावना से भरी रहती थीं.

घर से जन्मदिन पर तो जाने की परमिशन मिलना मुश्किल था तो उस दिन शाम को सिलाई सेंटर की छुट्टी कर सुमन ने

श्वेता के जन्मदिन की पार्टी में हिस्सेदारी की. श्वेता के पिता एक बड़े सरकारी ओहदे पर थे. पढ़े-लिखे परिवार का माहौल सुमन चौधरी के कुनबे के माहौल से बिल्कुल अलग था. यहां गज भर घूंघट करने वाली महिलाएं और बैठक में रहने वाले खंखारकर घर में घुसने वाले पुरुष नहीं थे. ऊंची आवाज में बात करते दबंग पुरुष और उनके सामने नीची आवाज में बात करते सिर झुकाए रखने वाली 'जी-जी' करतीं, सहमी हुई महिलाएं यहां लगभग गायब थीं. सब कुछ इतना अलग था कि सुमन चौधरी मंत्रमुग्ध सब देखती रह गईं. सुमन के यहां भौतिक संसाधनों की कोई कमी नहीं थी जो पैसे के बल पर देखा देखी जुटा लिए गए थे. पर यह घर, यह समाज, यहां के लोग अलग थे. महज आर्थिक संपन्नता और शिक्षित परिवेश की आधुनिकता के बीच का फर्क आज वे बारीकी से देख पा रही थीं.

केक कटिंग सेरेमनी से लेकर ढेर सारे तोहफों की आमद और बढ़िया खाने, कोल्ड ड्रिंक्स के साथ डांस पार्टी का आयोजन किया गया था. इससे पहले ऐसे 'हैप्पी बड्डे' मनते सुमन ने फिल्मों में जरूर देखे थे पर किसी जवान लड़की का जन्मदिन इस तरह भी मनाया जाता है यह सुमन के लिए बिल्कुल नई जानकारी थी.

इधर दो साल से सबसे छोटे भाई और भतीजे के जन्मदिन पर उनके घर में सतनारायण की पूजा और शाम को केक जरूर काटना शुरू हो गया था पर सुमन चौधरी का जन्मदिन कब आता और कब चला जाता किसी को मालूम ही नहीं चलता था. हां, चौधराइन उनके जन्मदिन पर हलवा बनाकर और सबकी ओर से उन्हें कोई महंगा और सुंदर-सा सूट दिलाकर इस दिन को खास बना देतीं. एक बार कानों की लेटेस्ट डिजाइन की सोने की बालियां बनवाई थीं और दसवीं पास करने वाले जन्मदिन पर एक सोने की चेन बनवा दी थी. कुछ साल से उनकी चाचियां उन्हें जन्मदिन की

शुभकामनाएं और भाभी कभी-कभी कोई तोहफा देने लगी थीं पर इसके अतिरिक्त अपने जन्मदिन से जुड़ी कोई विशेष याद उनके खाते में नहीं थी.

श्वेता की जन्मदिन पार्टी वाले दिन जो कौतूहल आंखों के रास्ते सुमन के मन में प्रविष्ट हुआ था वह एक नया ही आकार लेने लगा था. इधर कुछ दिन से एक ख्वाहिश उनके मन में जोरों से अंगड़ाई लेने लगी थी, एक बार बस एक बार, धूमधाम से अपना 'हैप्पी बड्डे' मनाने की ख्वाहिश. ठीक श्वेता की तरह केक कटिंग, खाना-पीना और सहेलियों के साथ तेज म्यूजिक पर डांस पार्टी. इतना सब तो होना ही चाहिए. इससे कम पर बिल्कुल समझौता नहीं करेंगी सुमन यह तय कर चुकी थी. चौधराइन ने हमेशा के विपरीत उनकी इस बात को ध्यान देकर सुना तो उनका हौसला बढ़ गया था. ये इस घर में उनका आखिरी जन्मदिन था जिसे वे यादगार बना देना चाहती थी. उन्हें इसमें भाभी और चाचियों का भी पूरा समर्थन मिला, आखिर वे जल्दी ही विदा जो हो जाने वाली थीं.

"छोरी का जनमदिन?" बड़े चौधरी ने पहली बार में इस बात को ठहाके में उड़ाते हुए बाहर का रुख किया पर पीछा अभी छूटा नहीं था. दूसरी बार भी उन्होंने फालतू की बात बताकर साफ इनकार कर दिया. तीसरी बार ये बात लेकर खुद सुमन भी चौधराइन के साथ खड़ी थी. दरवाजे पर घूंघट में कनखियों से देखती बाकी महिलाओं को देखकर बड़े चौधरी को उन सबके मूक समर्थन का अंदाजा हो चला था. उन्होंने भाइयों पर दृष्टि डाली तो उनके चेहरों पर भी समर्थन ही डोल रहा था. बेटों ने तो आगे बढ़कर सुमन का साथ ये कहकर दिया कि

"अगले साल इसका जो जी आए करे, अगले मालिक, इस साल मना लेन दो जी, हरजा ही के है."

ये भला कैसे हो सकता है. छोरी का जनमदिन? जितनी लग रही थी, बड़े चौधरी के लिए ये बात उतनी सहज नहीं थी. बेटी का केक काटकर जन्मदिन मनाने जैसी अजीबोगरीब बात उस कुनबे के लिए 'न भूतो न भविष्यति' की श्रेणी में आती थी. इस बात पर अमल से बिरादरी में जगहंसाई

से लेकर फालतू छूट देने को लेकर रिश्तेदारों की नाराजगी तक का खतरा था कि कल को उनकी छोरियां भी 'डिमांड' करना सीखेंगी. पर वे चारों ओर से घिर चुके थे. उस पर तुर्रा ये कि नए रिश्तेदारों को भी खबर देनी होगी.

बड़े चौधरी ने सौ तर्क दिए पर जब पूरा परिवार मुकाबिल था, ऊपर से सुमन के पराए घर चले जाने की भावुक दलील, उनके सामने कोई चारा नहीं बचा तो

"थारा जो जी आए करो पर कोई फालतू तमासा नहीं चहिए मन्ने, सुनी."

कहकर हथियार डालते हुए उन्होंने बैठक का रुख किया और उनके पीछे दोनों चौधरी भी सिर हिलाते हुए निकल गए. हरी झंडी मिलने की देर थी कि हैप्पी बड्डे की तैयारियों में भाई-भाभियों ने कोई कोर कसर नहीं उठा रखी. बाकायदा हॉल को गुब्बारों और कागज की झंडियों से सजाने की पूरी तैयारी की गई. बड़ा-सा केक आर्डर किया गया. ढेर-सा खाने-पीने का सामान और हां पहली बार घर की बनी लस्सी की जगह तीन रंग के कोल्ड ड्रिंक भी मंगाए गए. एक बड़ा सा म्यूजिक सिस्टम और सुमन चौधरी की पसंद की ढेर सारी कैसेट्स का भी इंतजाम किया गया.

सुमन चौधरी ने फोन पर श्वेता सहित सब सहेलियों को ठसक से 'इनवाइट' किया था. अड़ोस-पड़ोस की हमउम्र सहेलियों को भी न्यौता गया. चौधरी साहब की खास ताकीद के अनुसार रिश्तदारों को इस आयोजन से दूर ही रखा गया पर नई पीढ़ी की जिद पर नए रिश्तेदारों के यहां फोन कर अनूप सिंह को विशेष तौर पर आमंत्रित किया गया. और एक बड़ा-सा गिफ्ट पैक लेकर वे आए भी.

सुमन चौधरी ने लाल और काले रंग का लेटेस्ट काट का नया सलवार-सूट पहना. दो गली पीछे के ब्यूटी पार्लर में संवारी हुई भौंहों, हल्का-सा मेकअप और कर्ल कराए हुए बालों से उनका चेहरा और हेयर स्टाइल भी आज किसी सिने तारिका से कम प्रतीत नहीं हो रहा था. वे बार-बार आदमकद आईने में खुद को अनूप सिंह की निगाहों से निहारते हुए खुद पर ही मोहित हुए जा रही थीं. जैसा कि अनुमान था सुमन चौधरी के इस जन्मदिन समारोह में घर के तीनों चौधरियों में से कोई भी शामिल नहीं हुआ क्योंकि 'बच्चों का चोंचला' घोषित किए हुए इस दिन पर सबको कोई न कोई खास काम निकल आया था.

उन्नीस के अंक को दर्शाती एक और नौ अंकों की दो जलती मोमबत्तियों को बुझाने के बाद, बाकायदा 'हैप्पी...बर्थडे... टू...यू..' की स्वर लहरियों के साथ सुमन ने बड़ा-सा बिना अंडे का चॉकलेट केक काटा तो पूरा हॉल तालियों से गूंज उठा. उनकी कुछ लजीली, कुछ गर्वीली नजरें अनूप के चेहरे पर थीं जो ताली बजाकर बड्डे का गीत गुनगुना रहे थे. धीमी मुस्कुराहट से सराबोर सुमन चौधरी का चेहरा पवित्र खुशी की चमक से दमक रहा था. ये मन की सबसे बड़ी ख्वाहिश के पूरा होने का दिन था. उसके अस्तित्व के एक व्यक्ति के तौर पर इस पुरुषसत्तात्मक कुनबे में स्वीकृत हो जाने का दिन.

सुमन चौधरी जानती हैं वे एक परिवार से दूसरे ऐसे ही परिवार में चली जाएंगी जहां लड़कियों का हैप्पी बड्डे फालतू की बात है. वे नहीं जानती कि कल भविष्य में उनके साथ क्या होने वाला है पर वे आज अपने वर्तमान के उस अनोखे सुख को महसूसने का कोई मौका पीछे नहीं छोड़ना चाहतीं जिसके सपने खुली आंखों से देखने में उन्होंने इतने दिन गुजारे.

चौधराइन इस पूरी कवायद पर नजर गढ़ाए थीं. कोई भी बात उनके तयशुदा खांचे से बाहर न चली जाए इसे लेकर वे बाहर से सख्ती दिखाकर, विशेष रूप से सावधान रहने की कोशिश कर रही थीं पर इस बार डोर उनके हाथ से बार-बार छूट जाती थी. खास बात ये थी कि इस डोर के छूट जाने पर उनके मन का आल्हाद और खुशी वे चुपके से मन में छुपा लेती थीं.

तो जी लब्बोलुआब यह कि सोनोग्राफी की तकनीक के विकसित होने के साथ छोरियों की लगातार घटती आमद वाले ऐसे प्रदेश की एक लड़की आज धूमधाम से अपना हैप्पी बड्डे मना रही थी जहां छोरियों को जन्मते ही गले में गूंठा (अंगूठा) दे देने तक के किस्से अतीत में अपनी जगह आज भी बनाए हुए थे. जहां बेटी, बेटी नहीं डिक्री कहलाती थी जिसका जन्म उसके जन्मदाता का सिर पूरे कुनबे सहित झुका देता था.

ऐसा परिवेश जहां बेटे के जन्म पर कांसे की थाली बजाकर पूरे गांव में सुखद घोषणा कर देने का रिवाज था और नाम धरे पर आधी रात तक चलने वाली जोरदार 'लाडू' की दावत का रिवाज था, वहीं बेटी का जन्म, पिता और पूरे खानदान पर टूट पड़ी आफत के प्रति अफसोस जताने लायक घटना से अधिक नहीं माना जाता था, ऐसे गांव-घर-कुनबे की छोरी आज अपने पैदा होने के दिन का जश्न मना रही थी.

खास बात तो थी कि पितृसत्ता की धमक से बाहर यह पहली आवाज थी जो इस कुनबे में सुनी गई. बाहर वसंत की यह शाम गहरा रही थी और सामने हॉल में जोर से म्यूजिक के स्वर गूंज रहे थे और सुमन चौधरी 'सुन साहिबा सुन' गाने पर अपनी सहेलियों के साथ ठुमका लगा रही थीं.

उस शाम सुमन चौधरी का उस घर में धूमधाम से मनाया गया आखिरी जन्मदिन यानी हैप्पी बड्डे वाकई उस पूरे कुनबे के लिए यादगार दिन बन गया. उसके बाद कभी सुमन चौधरी का हैप्पी बड्डे मनाया गया या नहीं ये कथाकार की जानकारी में नहीं है पर उसने इतना जरूर सुना कि सुमन चौधरी अपनी बेटी का हैप्पी बड्डे अपने परिवार और रिश्तेदारों की मौजूदगी में बड़ी धूमधाम से मनाती हैं, ठीक उसी तरह जैसे कभी उनका मनाया गया था.

❐

उपलब्ध

विशेषांक

सितंबर 2018

नवाचार के जनाचार

अतिथि संपादकः रविकान्त, विनीत कुमार

मेमरी ड्राइव : आदिकाल

विजेन्द्र सिंह चौहान, रवि रतलामी, डॉ. प्रकाश हिन्दुस्तानी, अनूप शुक्ल, संगीता कुमारी, ललित कुमार, बालेन्दु शर्मा दधीच, वरुण ग्रोवर

इमॉटिकॉन : छवि-भाषा

अपराजिता शर्मा, अनिमेष मुखर्जी, सुशील, अमरेंद्र नाथ त्रिपाठी, ओम थानवी

डिजिटल डेमॉक्रैसी : वायरल जनतंत्र

रवीश कुमार, सुदीप्ति, दिलीप ख़ान, पुष्यमित्र, निक्की तिवारी, संजीव सिन्हा, अटल तिवारी, लक्ष्मण यादव, रोहिन कुमार

हैशटैग : अस्मिता विमर्श

नीलिमा चौहान, सुधा उपाध्याय, डॉ. रमा, संजीव चन्दन, अनिल चमड़िया, डॉ. रतन लाल, ए. के. पंकज, अखिलेश्वर पांडेय

डू इट योरसेल्फ़ : रोज़मर्रा की रियाज़त

अनुराधा बेनीवाल, पवन के. श्रीवास्तव, आशिमा कुमारी, श्रीमंत जैनेन्द्र, तनु शर्मा, गिरीन्द्रनाथ झा, अपूर्वानंद

इंटरमीडिया : संगम माध्यम

यूनुस ख़ान, इरफ़ान, अमितेश कुमार, शशिभूषण द्विवेदी, अतुल चौरसिया, रविकान्त, मिहिर पंड्या, अजय ब्रह्मात्मज

टाइमलाइन : भविष्य

विराग गुप्ता, अजय शर्मा, आलोक मणि, सौरभ द्विवेदी

बुकमार्क

विनीत कुमार

कीवर्ड

रोहिन कुमार, रवि रतलामी

मूल्य : 80 रुपए डाक खर्च : 70 रुपए

अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : 011-23270377, 41050047 ईमेल : editorhans@gmail.com वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

अग्निलीक : परिवर्तन और निरंतरता का परिपक्व आख्यान

संजीव कुमार

परख

1

ज्यादा दिन नहीं हुए, दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज की संगोष्ठी में वक्ताओं की पूरी बात को गुड़गोबर करने वाला एक अध्यक्षीय वक्तव्य सुना था. अध्यक्ष हिंदी के एक बुजुर्ग कथा-आलोचक थे जिन्होंने अपने वक्तव्य की शुरुआत में ही श्रोताओं को, जिनमें बड़ी तादाद विद्यार्थियों की थी, बताया कि किसी भी उपन्यास को पढ़ते हुए उसके समय के यथार्थ के साथ उसका मिलान करना चाहिए और देखना चाहिए कि कथाकार ने उस यथार्थ को ज्यों-का-त्यों पेश किया है या उसके साथ कोई छेड़छाड़ की है. यही, उनके अनुसार, उपन्यास के मूल्यांकन की कसौटी थी.

इसे कसौटी मानने की दीगर मुश्किलों को छोड़ भी दें तो उपन्यास के 'समय का यथार्थ' जिस तरह उस आलोचक के लिए निहायत असमस्यामूलक पद था, वह आज की बहसों से परिचित किसी भी व्यक्ति के लिए खासा आश्चर्यजनक और मनोरंजक हो सकता है. गोया 'समय का यथार्थ' कोई ऐसी चीज है जो पहले से कहीं निकालकर रख दी गई है. इतिहास-ग्रंथों, अखबारों, विश्लेषणात्मक लेखों आदि से उसे पाया और बहुत निश्चयात्मक शब्दों में बताया जा सकता है और आलोचक का काम 'उस' यथार्थ के प्रति उपन्यास की निष्ठा की जांच करना भर है. गरज कि उपन्यास तो पाठ है, पर आलोचक ने 'समय का यथार्थ' जहां से हासिल किया है, वे पाठ नहीं, तथ्य-सत्य-संग्रह हैं तभी तो वह एक पाठ की अन्य पाठों से भिड़ंत कराने के बजाय उनके बीच धातु और कसौटी का संबंध स्थापित करना चाहता है! कसौटी से सोने की गुणवत्ता ही जांची जा सकती है! सोना कसौटी की गुणवत्ता के बारे में कुछ बता सकता है, ऐसा कहीं सुना है!

मुश्किल यह है कि ऐसी आश्चर्यजनक और मनोरंजक समझ कथा-आलोचना में पीढ़ियों के आर-पार व्याप्त है. यह पद्धति नई पीढ़ी में भी पर्याप्त प्रचलन में है कि किसी उपन्यास को पढ़ने के बाद उसकी कथाभूमि बनने वाले इलाके की सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं-परिघटनाओं के एक पहले से सुलभ आख्यान-विमर्श के साथ उसका मिलान किया जाए और उसके आधार पर उपन्यास के प्राप्तांक तय कर दिए जाएं.

ये बातें इसलिए कह रहा हूं कि समीक्ष्य उपन्यास 'अग्निलीक' इस पढ़त-पद्धति का शिकार हुआ है. मेरे मित्र राकेश बिहारी को सीवान से जुड़े गांव की कथा कहने वाले इस उपन्यास से शिकायत है कि सीवान को 'एक सत्तापोषित दुर्दांत अपराधी के आतंक की छाया में लंबे समय तक जैसे-तैसे सांस लेकर जीता' रहने वाला कस्बा बताने के बावजूद उपन्यास की कथा उससे कन्नी काटकर क्यों निकल जाती है! (इशारा राजद से जुड़े शहाबुद्दीन की ओर है, हालांकि राकेश ने उसका नाम लेने से खुद भी कन्नी काट ली है!) यह शिकायत हल्के में नहीं की गई है. राकेश को लगा है कि 'समकालीन राजनीति के उस बीहड़ में बिना धंसे संदर्भित जनपद के राजनीतिक-सामाजिक बदलावों को रेखांकित करने की रूमानी रचना-प्रविधि ने उपन्यास को कथानक की उन गहराइयों तक नहीं पहुंचने दिया है जिसकी जड़ें 1857 के सिपाही विद्रोह से लेकर बिहार में 2016 में लागू हुई शराबबंदी तक फैली हुई हैं.मतलब यह कि शहाबुद्दीन जैसे किसी चरित्र को और उसके बहाने राजदीय यादव-मुस्लिम-गठजोड़ को यथेष्ट स्थान न देने की शिकायत उपन्यास की गुणवत्ता के सन्दर्भ में निर्णायक नुक्ता है, बस एक छोटी-सी शिकायत नहीं. उसे राकेश 'समकालीन राजनीति का बीहड़' मानते हैं, जिसमें धंसने से बच निकलना उपन्यास की 'रचना-प्रविधि' को 'रूमानी' बना देता है. रूमान को साहित्य में यथार्थ के विलोम के तौर पर देखा गया है. यानी आलोचक यह मानता है कि एक स्थान-विशेष की अवधि-विशेष का जो आख्यान उसे पहले से हासिल है, वही 'यथार्थ' है, उपन्यास में जिसके न मिलने का मतलब है, यथार्थ की अनुपस्थिति और 'रचना-प्रविधि' का 'रूमानी' होना.

उपन्यास से आपको कथावतार में अपनी बातें सुनने को मिलें, यह बहुत स्वाभाविक

इच्छा है, पर समस्या वहां आती है जहां आप उन बातों को सुनने के चक्कर में उपन्यास की अपनी बातों के प्रति बधिर हो जाते हैं और फिर अपनी बधिरता को उपन्यास की मूकता के तौर पर व्याख्यायित करने लगते हैं.

'अग्निलीक' जैसे प्रौढ़ उपन्यास की पूर्वोक्त पढ़त इसी का एक नमूना है.

2

'अग्निलीक' पर लिखने का मन बनाते हुए मुझे प्रियंवद के साथ हुई एक व्यक्तिगत बातचीत बार-बार याद आती रही. 'आलोचना' पत्रिका के लिए विभाजन-केंद्रित उपन्यासों पर अपना लंबा आलेख भेजते हुए उन्होंने कहा था कि इसमें उपन्यासों के बहुत लंबे-लंबे उद्धरण हैं जो अपने में उपन्यास-लेखन की कला के नमूने भी हैं. मैं चाहता हूं कि आप उन्हें छोटा न करें ताकि आज की पीढ़ी उनके विवरण और उनकी कथा-भाषा का आस्वाद लेते हुए यह जाने कि उपन्यास कैसे लिखे जाते हैं.

'अग्निलीक' के प्रसंग में इस बात का याद आना अकारण नहीं था. एक कारण तो यही कि पढ़ते हुए मैं बहुत लंबे-लंबे हिस्से रेखांकित करता चल रहा था जिन्हें मैं इसके उदाहरण के तौर पर उद्धृत करना चाहता था कि अमृतलाल नागर और राही मासूम रजा वाली रवां कथा-भाषा, जो इन दिनों दुर्लभ हो चली है, इस कथाकार के यहां अपने पूरे आस्वाद के साथ उपस्थित है. दूसरा यह कि एक बड़ा उपन्यास रचने के लिए उसके विषय से संबंधित बहुज्ञता और समय के आयाम में लेखक का अबाध विचरण कितनी जरूरी चीजें हैं, इसका एक परिपक्व नमूना है यह उपन्यास. इस लिहाज से भी, आम पाठकों के अलावा, नए कथाकारों के लिए उनके ही एक वरिष्ठ समकालीन की यह रचना एक जरूरी पाठ है.

'अग्निलीक' की कथा का वर्तमान 2013 से शुरू होकर 2016 तक चलता है, पर उपन्यास का बहुत बड़ा हिस्सा घेरने वाला उसका अतीत आजादी के कुछ वर्ष पहले तक पसरा हुआ है और स्थानीय इतिहास बताने वाले कई हवाले 1857 की लड़ाई से भी जुड़े हैं.

पहले कथा के वर्तमान और अतीत जिन्हें आख्यान-शास्त्र में 'नैरेटिव प्रेजेंट' और 'नैरेटिव पास्ट' कहा गया है, के इस विभाजन को समझें. उपन्यास शुरू होता है शमशेर साईं नामक एक दबंग की हत्या से. यह हत्या 2013 की जन्माष्टमी की रात को होती है. वर्ष कहीं बताया नहीं गया है, पर कथा में मौजूद संकेतों से आप इस तिथि तक पहुंच सकते हैं. इस हत्या के साथ देवली-मनरौली पंचायत क्षेत्र में जो हलचल शुरू होती है, उससे ही उपन्यास का मुख्य भाग निर्मित हुआ है. यह खत्म होता है पटना में हुई एक हत्या पर, जो देवली के मुखिया, उपन्यास के मुख्य पात्र, लीलाधर यादव के पोते के हाथों हुई है. यह घटना 2016 की है.

इस तीन वर्षों में जुड़वां गांवों देवली-मनरौली में जो कुछ होता है, वह उपन्यास का लगभग दो-तिहाई हिस्सा घेरता है और उससे गुजरते हुए आपको पता होता है कि आप कथा के वर्तमान में हैं. लेकिन कोई भी वर्तमान बिना अतीत के तो है नहीं! इसलिए कहीं पात्रों और कहीं घटना-विकासों की पृष्ठभूमि बताते हुए कथाकार अक्सर आपको बहुत पीछे तक ले जाता है. यह काल-विचरण इतना सहज है कि कथा में घुला हुआ इतिहास-बोध आपके भीतर नामालूम तरीके से उतर आता है. मिसाल के लिए, उपन्यास के प्रमुख पात्रों में से एक, लीलाधर यादव का जिक्र आने के बाद पहले तो वाचक ने स्वाधीनता-प्राप्ति की पूर्व-संध्या पर उनके जन्म की कहानी बताई है, फिर उनकी जन्मदात्री जसोदा ने उनका नाम लीलाधर क्यों रखा, इसकी जानकारी देते हुए वह उस मां की असफल प्रेम-कहानी और लीलाधर के पिता अकलू यादव से उनके विवाह की दास्तान सुनाने लगता है और आप अपने को पिछली सदी के पांचवें दशक में पाते हैं. मौका लगते ही वाचक अकलू यादव के डकैती के झूठे आरोप में सजा काटने की और वापस आने के बाद संपन्न उच्च-जाति ग्रामीणों की टीका- टिप्पणियों से तंग आकर सचमुच डकैती करने की कहानी बताता है, जिसमें लीलाधर यादव की पारिवारिक संपन्नता का रहस्य छिपा है. फिर डकैती करते हुए अकलू यादव के मारे जाने का प्रसंग है, जो किशोर लीलाधर के व्यक्तित्व में आई गंभीरता और प्रतिष्ठा-अर्जन के रुझान की पृष्ठभूमि बयान करता है और इतना सब कुछ करने के बाद कहानी वापस 'नैरेटिव प्रेजेंट' में लौट आती है.

यह प्रविधि उपन्यास के ज्यादातर पात्रों और अनेक प्रसंगों के साथ अपनाई गई है. मुंशी दामोदर लाल, रासबिहारी चौधरी, रेशमा, अकरम अंसारी, मुन्ने मियां, नबीहा, अच्छेलाल साह, रज्जन पासवान, मुन्नी बी, शेख बदरू, काजी शेख बसीर, रंगनू मांझी, जीतन नोनिया इन सभी अहम और गौण पात्रों का वह अतीत, जिसने उनके वर्तमान को गढ़ा है, उपन्यास में मौजूद है और कथा-कथन की परिपक्वता ऐसी है कि आप कहीं भी विषयांतर जैसा अनुभव नहीं करते. वे विषयांतर हैं भी नहीं, क्योंकि कथा के वर्तमान में जारी पात्रों की गतिविधियों को उस अतीत के बगैर समझा नहीं जा सकता, पर इतना जरूरी होते हुए भी इस बात का खतरा तो रहता ही है कि घटना-विकास में दिलचस्पी लेता पाठक उन्हें एक विचलन

की तरह ले. यहीं कथा-कथन की परिपक्वता का इम्तहान होता है जिसमें हृषिकेश सुलभ उत्तीर्ण होते हैं. यहां एक लंबा हिस्सा उद्धृत करने की इजाजत चाहूंगा. यह अकलू यादव के मददगार मुंशी दामोदर लाल से संबंधित है. अकलू यादव खुद 'नैरेटिव पास्ट' में हैं, और उनके मददगार की वंशगत पृष्ठभूमि तो उस अतीत का भी अतीत है, पर वह कितने सहज तरीके से आता है, इस पर गौर करें. दामोदर लाल के धन और मान का जिक्र करने के बाद वाचक पीछे जाता है :

'मुंशी दामोदर लाल के परदादा फारसी के आलिम-फाजिल थे और शायरी करते थे. शायरी ने उन्हें फकीराना तबीयत दी थी. इस फकीरी ने उन्हें शोहरत तो दी, पर धन-दौलत नहीं कमा सके. दामोदर लाल के दादा मुंशी रोशन लाल पटवारी थे और मजमूननवीसी में उनका कोई जोड़ नहीं था. बाप से मिली हुई फारसी और उर्दू की सौगात ने मुंशी रोशन लाल को ऐसा हुनर दिया कि दौलत की बरसात होने लगी. उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जन्मे रोशन लाल का ब्याह मरकन के कायस्थ परिवार में हुआ. ससुराल वालों की पहुंच और फारसी-उर्दू के चलते पटवारी बने. मुंशी रोशन लाल ने तहरीर, हिसाबनामा, रसीदाना, फरकाना और नेग के नाम पर भारी कमाई की. जमीन तो अरजा ही, सोना-चांदी के सिक्कों से घर पाट दिया. जमीन के कागजात के मामलों में उनकी हुनरमंदी का पूरे इलाके में कोई जोड़ नहीं था. जिस कागज पर मुंशी रोशन लाल अपनी कलम से रोशनाई लगा देते, उसका तोड़ फिरंगियों तक के पास नहीं होता था. इस मजमूननवीसी ने उनके लिए सौभाग्य के द्वार खोल दिए थे. मुंशी रोशन लाल ने आने वाली पीढ़ियों के लिए अकूत संपत्ति अर्जित की. जमींदारों के बीच अपनी साख के बल पर कई बेनामी पट्टे लिखवाए, गैरमजरुआ आम और गैरमजरुआ खास में उलट-फेर किया. मुंशी रोशन लाल के दो बेटे थे. बड़े बेटे प्लेग में चल बसे और इसके बाद दूसरे बेटा मुंशी सोहबत लाल सन सत्तावन के विद्रोह-काल में पैदा हुए. जब मुंशीयाइन को प्रसूति-पीड़ा हो रही थी, सीवान का डिप्टी मजिस्ट्रेट लिंच अपनी जान बचाने के लिए दर-दर भटक रहा था. छिपने के लिए वह देवली की लिलही कोठी की ओर भी आया था.

'मुंशी सोहबत लाल दारू और कलिया के रसिया थे. उन्होंने आने वाली पीढ़ियों के लिए कमाया तो नहीं, पर पिता की कमाई को उड़ाया भी नहीं. हां, खुद जो कमाया, उसे अपने जीवन-काल में ही फूंक-ताप गए. इन्हीं मुंशी सोहबत लाल के बड़े सुपुत्र थे दामोदर लाल. छोटे बेटे का नाम हरिहर लाल था. सोहबत लाल की एक अंग्रेज से ऐसी सोहबत हुई इस साथ-सांगत के बल पर अपने दोनों बेटों की जिंदगी बना दी. सोहबत लाल सिर्फ खाने के नहीं, पकाने के भी शौकीन थे. उस अंग्रेज साहब ने सोहबत लाल के हाथ का बना खस्सी का कलिया क्या खाया, उनका दीवाना ही हो गया. जब-तब उसकी कोठी से खबर आती और सोहबत लाल बधिया खस्सी का मांस लेकर हाजिर हो जाते. उनकी देख-रेख में कलिया पकता. एक तो अंग्रेज साहब की संगत का नशा और ऊपर से अंगरेजी दारू का सुरूर. सोहबत लाल के पांव जमीन पर नहीं पड़ते थे उन दिनों. वे चाहते तो सैकड़ों बीघा धरती अर्जित कर सकते थे, पर उन्होंने न लोभ किया, न कभी जुबान खोली. कोठी में आने-जाने और अंग्रेज साहब से उनकी निकटता के कारण जमींदारों, कचहरी और दीगर सरकारी महकमों में उनका अलग ही रुतबा था. उनका लोभी न होना उनके काम आया. अंग्रेज साहब ने एक दिन बुलाकर बच्चों के बारे में पूछा. यह जानकार खुश हुआ कि सोहबत लाल अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा रहे हैं. उसने तत्काल बड़े बेटे दामोदर लाल को मुंसिफ मजिस्ट्रेट के कोर्ट में नाजिर के पद पर बहाल करवा दिया. दूसरे बेटे हरिहर लाल वकालत पढ़ना चाहते थे, सो पटना में उनकी पढ़ाई का इंतजाम भी अंग्रेज साहब ने करवाया. हरिहर लाल वकालत पढ़ते रहे और मुंशी सोहबत लाल पूरी दयानतदारी के साथ साहब बहादुर को कलिया परोसते रहे. इस कालिया ने फिर कमाल दिखाया और एक दिन हरिहर लाल बैरिस्टर बनने सात समन्दर पार चले गए. बैरिस्टर बनकर लौटे तो पटना में फौजदारी के बड़े वकील बने.'

यह परिदृश्यात्मक वर्णन थोड़ा और लंबा चलता है, पर मैं जो बताना चाहता हूं, उसके लिए इतना काफी है. इस उद्धरण में कथा-भाषा की रवानी और समय के आरपार वाचक की सहज-सुचिक्कन आवाजाही तो गौरतलब है ही, कथा में घुला हुआ इतिहास-बोध भी ध्यान देने लायक है. फारसी-उर्दू का ज्ञान, कागजात तैयार करने का हुनर, पटवारीगिरी से अर्जित संपदा, अंग्रेजों की सोहबत के लाभ, इन सब चीजों को एक संपन्न कायस्थ परिवार की सौ वर्षों में फैली पारिवारिक पृष्ठभूमि के तौर पर पेश करता वाचक जैसे कई चीजों को समझने के दरवाजे आपके लिए खोल रहा है. आप किसी हद तक कायस्थ घरानों की एक प्रतिनिधि तस्वीर के सामने खुद को पाते हैं. यहां यह याद रखना जरूरी है कि प्रतिनिधि या 'टाइप' का मतलब बहुतायत में मिलने वाला या 'औसत' नहीं होता. लुकाच को याद करें, जिनका कहना था कि 'टाइप को जो चीज टाइप बनाती है, वह उसका औसत गुण नहीं है...उसे टाइप बनाने वाली चीज यह है कि उसमें मानवीय और सामाजिक

रूप से अनिवार्य सभी निर्धारक अपने विकास के उच्चतम स्तर पर, अपनी छिपी संभावनाओं के पूर्ण उद्‌घाटन में, अपनी अतियों की आत्यंतिक प्रस्तुति में मौजूद होते हैं.' 'टाइप' को यथार्थवादी उपन्यास का मानक मानने वाले लुकाच की इस बात की रोशनी में उद्धृत अंश को पढ़ें तो उसकी ताकत समझ आती है. उपन्यास में मुंशी दामोदर लाल के परिवार और गांव के लाला टोला के बारे में आगे जो घटना-विकास आते हैं, वे इस बात की आगे बढ़कर ताईद करते हैं.

लेकिन इससे यह समझने की भूल न कीजिए कि इस उपन्यास में मुंशी दामोदर लाल या गांव का लाला टोला कहीं केंद्रीय भूमिका में हैं. यह तो सिर्फ उदाहरण के लिए आया हुआ अंश है. जिन पात्रों की थोड़ी भी अहम या जरूरी भूमिका उपन्यास में है, उनकी जड़ों की तलाश इसी रूप में की गई है. इससे हुआ यह कि तीन सालों का कथा-वर्तमान कई दशकों के कथा-अतीत की रोशनी खिल गया है. उपन्यास से गुजरते हुए सामाजिक तबकों और जाति-समूहों के आपसी संबंधों का गतिशास्त्र रचता परिवर्तन और निरंतरता का एक आख्यान आपके सामने खुलता जाता है. अपने अधिकांश में यह आख्यान प्रत्यक्ष विश्लेषण और सामान्यीकरण से परहेज बरतता है, पर कहीं-कहीं कथा में पचा हुआ ऐसा विश्लेषण भी देखने को मिलता है. ऐसे विश्लेषण पाठक के लिए अर्थ के निर्माण/संधान और आलोचक के लिए बदलाव को दिखाने वाले उद्धरणीय अंश के संधान को आसान भी बनाते हैं. तो मिसाल के लिए, सन् 78 के पंचायत चुनाव से संबंधित यह अंश देखें :

'यादवों सहित देवली और मनरौली की पिछड़ी जातियों और मुसलमानों के नेता के रूप में उभरे लीलाधर यादव. अपने समरस व्यवहार और मधुर बोली-बानी के चलते ब्राह्मण वोटों में भी उन्हें हिस्सा मिला. राजपूतों की ऐंठ और बात-बेबात फौजदारी करने पर उतारू रहने की आदत के कारण ब्राह्मणों के कई परिवार भीतर ही भीतर लीलाधर के पक्ष में थे. जी खोलकर दान-दक्षिणा देने वाले देवली के कायस्थ खेती-बारी और घर-दुआर बेचकर शहर जा बसे थे. राजपूतों के पास अब खाली जीभ रह गई, जो कतरनी की तरह चलती थी. पिछड़ी जातियों के परिवारों के पास बीते दिनों के दुखों और अपमान की हमेशा टीसती रहने वाली स्मृतियां थीं, जो उनकी संतानों को पढ़-लिखकर योग्य बनने और भूमि अर्जित करने के लिए ताप दे रही थीं. खेती-किसानी सहित श्रम के अन्य हुनर उनके पास थे. राजपूतों-ब्राह्मणों की तरह इनकी पीठ पर झूठी प्रतिष्ठा का कूबड़ नहीं निकला हुआ था, सो इस घरों में पैसे की आवग थी. अब ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देने की हैसियत इन्हीं परिवारों के पास थी. ब्राह्मण समय के इस खेल को समझने लगे थे और अपना पेट पोसने के लिए मन मारकर भी विनम्र और सहिष्णु दिखने लगे थे. पांव न छूने पर उनके कलेजे में अग्नि तो धधकती, पर उस अग्नि की लपटें बाहर नहीं निकलतीं. सन अठहत्तर के चुनाव में राजपूतों से गठबंधन के बावजूद कई ब्राह्मण परिवारों के वोट लीलाधर यादव के हिस्से में आया.'

लगभग एक सदी की अवधि में आए ऐसे बदलावों से ही उपन्यास का कथा-आधार निर्मित हुआ है जिनके विस्तृत हवाले इस समीक्षा में देना संभव नहीं, उसके लिए तो विस्तृत आलोचनात्मक लेख दरकार है, पर यह रेखांकित किया जाना जरूरी है कि बदलावों के बीच जो कुछ नहीं बदलता, वह उपन्यास में अदृश्य आत्मा की तरह विद्यमान है. यहां जातियों के बीच सत्ता के ठिकाने बदल रहे हैं, पिछड़ी जातियां आगे आ रही हैं, मुसलमानों में भी पसमांदाओं के आगे शेख-पठान परास्त हो रहे हैं, दलितों में नई तरह की अधिकार-सजगता है, स्त्रियां आगे बढ़कर हालात का और अपने दमन का सामना कर रही हैं, फिर भी ऐसा लगता है कि ताकत के रिश्ते लगभग ज्यों के त्यों हैं, उनके दोनों सिरों पर बैठे लोगों के नाम भले ही बदल गए हों. समाज का व्यापक लोकतांत्रीकरण और उस लोकतांत्रीकरण की सीमाएं, दोनों यहां बखूबी नुमायां हैं. आज जब मैं यह समीक्षा लिख रहा हूं, अखबारों में सेवानिवृत्त मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई के राज्यसभा में नामित किए जाने पर सेवानिवृत्त जस्टिस चेलमेश्वर द्वारा उद्धृत जॉन ऐडम्स का यह वक्तव्य छपा है, 'ऐसा कोई लोकतंत्र कभी नहीं रहा जिसने खुदकुशी न की हो.' शायद राजनीतिक व्यवस्था के रूप में लोकतंत्र पर की गई यह टिप्पणी एक 'मूल्यबोध के रूप में लोकतंत्र' पर भी लागू होती है. अगर सत्ताधारी बदल जाते हैं, पर सत्ता की प्रकृति नहीं बदलती, तो लोकतांत्रीकरण अंततः एक छलावा बनकर रह जाता है. 'अग्निलीक' मनुष्यता के इस तरह छले जाने की कहानी भी है.

शायद यह भी एक कारण है कि उपन्यास को एक त्रासद अंत देना उपन्यासकार को जरूरी लगा. लगभग सौ साल पहले जिस जसोदा को बिना एक शब्द बोले अपने प्रेम की बलि देनी पड़ी थी, उसकी परपोती के प्रेमी की हत्या उसी का भाई करता है, जिसके साथ उपन्यास का अंत होता है. जसोदा की परपोती रेवती भले ही एक दलित के साथ अपने प्रेम को लेकर अपेक्षाकृत मुखर और साहसी हो, भले ही वह पटना के एक गर्ल्स हॉस्टल में रहकर प्रतियोगिता-परीक्षाओं की तैयारी करती हो, भले ही देवली-मनरौली की मुखिया सीट स्त्री उम्मीदवार के लिए आरक्षित होने पर

मुखिया पद का चुनाव लड़ रही हो, उसका प्रेम भी मंजिल तक नहीं पहुंचता. फर्क है, पर प्रेम की त्रासद नियति के अधिक भयावह हो जाने के रूप में है. जसोदा अपने प्रेम को लेकर मौन थी, इसलिए उसका अंत भी प्रतिरोध-विहीन स्थितियों में हुआ था और वहां शारीरिक हिंसा अनुपस्थित थी. रेवती अपने प्रेम को लेकर मुखर है, वह एक सत्ताधारी के परिवार में पैदा हुए अपने बिगड़ैल भाई के विधि-निषेध का प्रतिरोध करती है, इसलिए उसके प्रेम का अंत प्रेमी की हत्या में होता है. यह फर्क जैसे खबरों में आने वाली खाप पंचायतों की अति-सक्रियता का राज बता देता है. प्रेमी जोड़ों को सजा देने की घटनाओं में पिछले सालों में जो बढ़त हुई, वह यह नहीं बताती कि हम पीछे गए हैं, उलटा यह बताती है कि समाज के एक हिस्से में लोकतंत्र जैसे-जैसे जड़ें जमाता है, वैसे-वैसे उसे नियंत्रण में रखने वाली शक्तियां भी अधिक आक्रामक होती जाती हैं.

3

काल में आगे-पीछे जाने की कथाकार की सहजता ने 'अग्निलीक' में कई चरित्रों को यादगार बना दिया है. लीलाधर, जसोदा, अकलू यादव, अकरम अंसारी, रेशमा, मुन्ने मियां, गुल बानो, मुन्नी बी, रेवती जैसे प्रमुख चरित्रों के साथ-साथ अच्छेलाल साह, रज्जन पासवान, नौशेर सांई, मनोहर रजक जैसे अनेक, अपेक्षाकृत सीमित कथा-स्थान घेरने वाले चरित्र भी अपनी छाप छोड़ जाते हैं. स्त्री-चरित्रों की एक लम्बी कतार है, जिसे कथाकार ने बहुत सधे हुए हाथों से गढ़ा है. रेशमा उनमें अव्वल है, जिसे हिंदी उपन्यासों की परंपरा में, संभवतः, काफी लंबे समय तक याद रखा जाएगा. इस चरित्र के प्रसंग में गुल बानो का यह प्रेक्षण जैसे उपन्यास का मूल स्वर है :

'मनरौली की हों या देवली की या फिर किसी और गांव की, जिन-जिन औरतों की बदचलनी के किस्से मशहूर थे, वे सब की सब किस्मत की मारी और नरम दिल ही मिलीं गुल बानो को और वे जो चौबीसों घंटे अपने आदमी के नाम की तस्बीह लिए फिरती थीं और नाक पर मक्खी तक न बैठने देती थीं, कठकरेज मिलीं.'

पाठक को प्रचलित सामान्य बोध के साथ सहज और आश्वस्त न रहने देना अच्छे साहित्य की विशेषता होती है, और शायद उसका सबसे जरूरी काम भी. 'अग्निलीक' अपने अनेक चरित्रों और प्रसंगों से हमारे उस सामान्य बोध की जड़ों को हिलाने का काम करता है जो यथास्थिति का सबसे बड़ा प्रस्तावक और स्थापित सत्ता-संबंधों का संरक्षक-पोषक है.

4

सराहना के इतने सारे बिंदुओं के होते हुए भी यह कहना अनुचित न होगा कि 'अग्निलीक' की पूरी प्रस्तुति में कोई नई जमीन तोड़ने जैसी बात नहीं है. यह मूलतः हिंदी के बड़े उपन्यासों की कला का बहुत पका-पोढ़ा दुहराव है. वह कथाभाषा का सवाल हो या समय में आगे-पीछे की आवाजाही का, चरित्रों को रचने की कला का सवाल हो या प्रसंगों पर ठहरने के अनुपात-बोध का, हृषिकेश सुलभ कुछ भी ऐसा नहीं करते जिसे पढ़कर आप हिंदी उपन्यास में किसी नई आहट की बात करें. जो कुछ यहां है, वह सर्वानुमति अर्जित कर चुकी प्रविधियों-युक्तियों की त्रुटिहीन आवृत्ति है. यह अपने आप में कोई छोटी बात नहीं और ऐसा स्वर, मैं समझता हूं, पीछे की गई सराहना में सुश्रव्य है. पर आखिरकार, साहित्य को समय-समाज के एक घटक के रूप में जीवन तो आवृत्तियों से नहीं, नवोन्मेष से ही मिलेगा. (यह कहने से काम नहीं चलेगा कि प्रविधियों-युक्तियों की आवृत्ति भले ही हुई हो, बात तो नई है. अलग से बात का नया होना, असल में, एक छलावा है जिसके शिकार वे लोग होते हैं जो कथ्य और रूप के प्रचलित द्वैत में सोचने के अभ्यस्त हैं.)

जहां सुलभ जी नवोन्मेष का प्रयास करते हैं—मसलन, जिन प्रसंगों में वे अभिधा को छोड़कर बहुत सांकेतिक-काव्यात्मक भाषा में प्रसंग का अंतरंग पकड़ना चाहते हैं वहां बहुत आश्वस्त नहीं करते. लीलाधर के जन्म का प्रसंग ऐसा ही है, जिसमें उस जन्म को अतिप्राकृतिक घटना की तरह बयान करने वाली काव्यात्मकता आपको बहुत युक्तियुक्त नहीं लगती. वहां लीलाधर के जन्म को, जो 14 अगस्त, 1947 की रात को होता है, आप नए भारत के जन्म के रूपक की तरह पढ़ सकते हैं, लेकिन चूंकि इसे रूपक की तरह आगे ले जाने के प्रति स्वयं उपन्यासकार की कोई तत्परता नहीं दिखती, लिहाजा पूरा तामझाम 'अजगुत' बनकर रह जाता है.

इस सीमा के बावजूद 'अग्निलीक' हमारे समय का एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है जिसे पाठकों के साथ-साथ नई पीढ़ी के लेखकों को भी एक सबक की तरह पढ़ना चाहिए क्योंकि 'नियमों को तोड़ने के लिए नियमों को जानना भी जरूरी है.'

❒

पुस्तक : अग्निलीक
लेखक : हृषीकेश सुलभ
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य : 250 रुपए

संपर्क : सी-35, विदिशा अपार्टमेंट्स, 79, इंद्रप्रस्थ विस्तार, दिल्ली-110092
मो. : 9818577833

कालचिती : गूंगा कराहता अंधेरा

नीलम कुलश्रेष्ठ

परख

'कालचिती' उपन्यास से गुजरना या उस पर कुछ लिखना प्रामाणिकता को तलाशने की एक बेहद तकलीफ भरी सुरंग से गुजरने की कोशिश है. इस उपन्यास के पांच खंड हैं.

सरकार के साथ उद्योगपतियों, माफिया, बिचौलियों व दलालों के लूटतंत्र का शिकार हैं आदिवासी. वातानुकूलित ऑफिसों से निकले इनके लिए वक्तव्यों को मीडिया उछालता है या कोई चित्रकार या फोटोग्राफर आदिवासी स्त्री की सुंदरता को भुनाता है. इधर के वर्षों में पर्यटक स्थल इसी संस्कृति को इनकैश करने में लगे हैं. इसी सब कुछ की किर्च-किर्च सीने को चीरती सच्चाई है यह उपन्यास. बहुत बड़ी तकलीफ है यह कि जंगलों को साफ कर उन पर की गई प्रगति डैम या उद्योग हमारे जैसे कितने ही इंसानों के आंसुओं व दर्द पर उन निरीह जानवरों की रेवड़ की तरह है जिन्हें उनकी ही जमीनों से खदेड़कर होती है.

यह उपन्यास पश्चिमी बंगाल व झारखंड की सीमा पर स्थित घाटशिला कस्बे के गांव 'कालचिती' के माध्यम से कटु सत्य उकेरता चलता है. उपन्यास का नायक आभीर एक स्कूल का मास्टर है, साहित्य को गंभीरता से पढ़ने वाला. कालचिती की एक विधवा जमुना मुंडा के बेटे बीरेन को पढ़ाता है. पता नहीं किस तरह ये मित्रता सघनता में बदल गई है. सरकारी डिस्पेंसरी के डॉक्टर सिद्धार्थ सहित इन तीनों की निकटता है. जमुना एक देवर व ससुर सहित आम आदिवासी परिवार की तरह अपनी बांसवाड़ी के बांसों से टोकरी, डाला, सूप, चटाई, टूपा, मोढ़ा, टाटर, टाला आदि बनाकर उसे हाट में या सड़क किनारे बैठकर बेचने का काम करता है. जमुना जिसका पति हरेन 'जय बिरसा मुंडा' बोलता था. बंदूक, तीर व झंडा किसी से नहीं डरता था लेकिन टाना भगत, सिद्धो-कान्हो, बिरसा मुंडा की तरह अपने लोगों के लिए लड़ने के लिए मार दिया गया. एक बंदूक की गोली उसके सीने में जा धंसी.

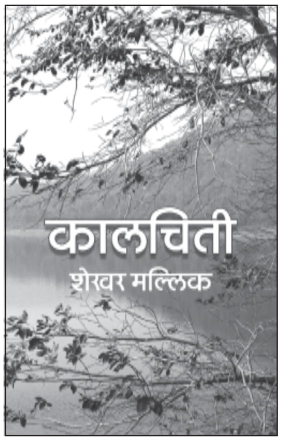

सारी आपदाओं को झेलते हुए गांव के साथ प्रकृति की उपासना करते त्योहारों को बहुत उत्साह से मनाता है—जैसे कर्मा परब, माघे परब. कर्मा परब का बहुत मनोहर वर्णन है—'जंगल जाकर कर्म-गाछ की डाली को दो कुंवारे लड़कों को लाना था. इसके लिए दल जंगल जा रहा था बजते मादल का उन्माद, शोर—औरतें कर्मा गीत गाती जा रही थीं. पाहन आगे-आगे सूप में सफेद काठचम्पा, सिंदूर, अरवा, चावल, पत्ते की खाला दोने में दिया बत्ती, मिठाई, अंडा, कच्चा दूध ले जा रहा था.'

जंगलों के झुरमुट, पेड़ों, झरनों और जिंदगी की तमाम दुश्वारियों के बीच अपनी दुनिया में हंसते खुशी मनाते ये लोकगीत कब चीखों, रुदाली में बदल जाएं, पता नहीं. जंगलों में जब जब पुलिस कैंप लगता है—लड़कियां गायब होनी शुरू हो जाती हैं.

आरंभ में दिल दहलाने वाले वे दृश्य हैं जब बार-बार जमुना से आभीर के गायब होने पर पूछताछ करने पुलिस आती है, एस. पी. साथ हैं. दरवाजा खोला नहीं जाता तो उसे तोड़कर अंदर घुस आती है. उसकी कमर, गर्दन को मसल-मसलकर प्रश्न पूछे जाते हैं. साली, हरामजादी, छेद, गुदा—भरभूर शब्द हैं. उसे घसीटकर झाड़ियों में ले जाकर तीन-चार टॉर्च की रोशनियों में सामूहिक बलात्कार होता है. उसे घायल करके यहीं छोड़ दिया जाता है. हुआ ये है कि सुबह पटमदा के आमदा पहाड़ी कच्चे रास्ते पर कॉम्बिंग अभियान से लौटते हुए फौजी टुकड़ी का एक एंटी लैंडमाइन वाहन लैंडमाइन के चपेट में आ गया है. वाहन समेत छह फौजियों के शरीर के परखच्चे जंगल में छितरा गए हैं...दृश्य देखिए—'गड्ढे में गाड़ी के लौह, रबर, शीशे के टुकड़ों के जैसा मानव देहों का मलबा है.' तो पूछताछ पहले जमुना से होनी है क्योंकि आभीर गायब है और पूछने पर कुछ न बता पाने पर इनके पास वही 'सजा' है. चाहे जेल में डाले आभीर के स्कूल के आदिवासी चपरासी प्रवीण की पत्नी बाहमनी हो, वह भी तो स्त्री देह है जंगल में मंगल करने के लिए.

लेखक के शब्दों में—कालचिती में गूंगा अंधेरा कराहने लगा.'

डॉ. सिद्धार्थ जैसे समर्पित डॉक्टर क्या करें. यहां की डिस्पेंसरी में सभी दवाइयां आती ही नहीं हैं, यदि आती भी हैं तो अक्सर उनमें एक्सपायरी डेट होती है. स्कूलों में कीड़े लगे अनाज का खाना खाकर बच्चे बीमार हो जाएं तो उन्हें ठीक करने के लिए सही दवाइयां नहीं हैं. ये दोनों बातें मीडिया से छिपाकर भी रखनी हैं. नहीं तो उस क्षेत्र के नेताओं की इज्जत का क्या होगा क्योंकि ये सरकारी

स्कूल हैं. लोग तपेदिक, मलेरिया या डेंगू से मरते रहें तो क्या?

लेखक के शब्दों में एक बड़ा सनातन सत्य है, 'यह पीढ़ियों से हस्तांतरित होती सतत विरासत है. किसानी, पहाड़ी, वनजीवी मुंडा जाति ही क्यों, हर आदिम जाति के पास अस्तित्व का आधार ही है ये जमीन' इसलिए सिंगूर से टाटा को अपना मुंह लेकर लौटना ही पड़ा था लेकिन क्यों कोई ग्रामवासी या आदिवासी अपनी ही जमीन के लिए अपना खून बहाए? और वो भी ऐसे औद्योगीकरण के लिए जो जमीन का स्थान नहीं ले सकता. जमीन जो पीढ़ी दर पीढ़ी पेट भरने में समर्थ है.

शेखर मल्लिक का 'कालचिती' सफेदपोशों या सभ्य समाज का जंगलों में से आदिवासियों को खदेड़ देने की भरपूर साजिश की परत दर परत खोलकर खुलासा करता है. यह दोनों उपन्यास हमें सोचने के लिए मजबूर करते हैं कि आजादी के इतने वर्षों बाद किसानों या आदिवासियों के लिए सरकार कुछ ठोस क्यों नहीं कर पाई? आज भी क्यों भूख से बेहाल होकर अपने हक के लिए लड़ता है कोई आदिवासी?

एक कंपनी की दृष्टि यहां के अयस्क पर है. उसके कुछ लोग यंत्र लेकर खेतों में नाप जोख करने लगते हैं. तीन-चार महीने बाद वे फिर आते हैं और कैद कर लिए जाते हैं. डॉ. सिद्धार्थ बताते हैं, 'मास्टर, इस गांव में पहली बार हो रहा है. इतने वर्षों से यहां शांति थी. क्यों कोई अपनी जमीन देगा?'

आभीर, प्रवीण व डॉ. तीनों इस जगह आते हैं जहां ये बंधक रखे गए हैं. इस मामले में पूरा गांव एक है. आभीर के सुझाव पर एक प्रार्थना-पत्र सरकार को देने की बात होती है. दूसरे दिन भी वे जाकर देखते हैं गांव वाले यहां उन बंधकों को घेरे डंडा, कुल्हाड़ी, टांगी, फरसा, लाठी लिए खड़े हैं. प्रवीण भी पारंपरिक पोशाक में सबके साथ खड़ा है. लड़कियां औरतें पाली बदलकर तीर कमान लिए खड़ी रहती हैं. इस क्षेत्र में रांची के आसपास रहने वाली छितामुनी का बहुत नाम है क्योंकि वे जमीन को बचाने के चक्कर में दो बार जेल जा चुकी हैं. वे इस विरोध का नेतृत्व करने यहां आ चुकी हैं.

इन्हें सब प्यार से मारांग दाई (बड़ी दीदी) कहते हैं. वे सबको एकजुट होने पर भाषण दे रही हैं. तभी पुलिस दल की दो जीपें, एक लारी, एक एंटी लैंडमाइन वाहन, कार, मोटरसाइकिल, अफसर व सरकार के पीछे दुमछल्ले से लगे दो-चार पत्रकार आ धमकते हैं. दोनों तरफ की बहुत कहा-सुनी के बाद अनुमंडल पदाधिकारी आखिरी बार जोर लगाकर कहते हैं कि धारा 144 लगी हुई है. आप लोगों से अपील करते हैं कि कानून नहीं तोड़ें नहीं तो वे इन्हें गिरफ्तार कर सकते हैं. बंधक अपने ऑफिसर्स को देखकर रो रहे हैं. छितामुनी चिल्ला रही है कि वे जबरदस्ती उनसे जमीन नहीं ले सकते. 'फायर' का आदेश सुने बिना कोई गोली चला देता है. भयंकर अफरा-तफरी मच जाती है. बच्चे, बूढ़े, औरतें, पुरुष जहां मुंह उठता है भाग लेते हैं. बंधक छुड़ा लिया जाते हैं. तीन लाशें वहां पड़ी हैं, जहां बंधक थे. बांस, बागान, शाल, केंदु, जंगल वनस्पति पर पड़े हैं निर्दोष इंसानों के रक्त के छींटे. बाद में डॉ. प्रश्न करते हैं, 'द स्टेट मशीनरी इज कमीटिंग क्राइम अगेंस्ट इंडीजीनियस पीपुल. इज दिस टु बी कंटीन्यूड?'

प्रवीण एक आदमी को संभालता है जिसके पेट को छूती गोली निकल गई है, अपने गमछे को बांधकर खून रोकने की कोशिश करता है व छितामुनी को बचाता एक जगह छिप जाता है लेकिन सर्च ऑपरेशन में दोनों पकड़ कर जेल डाल दिए जाते हैं. कहने की जरूरत नहीं है फिर शुरू होता है अफसरों की लीपा-पोती व दलों की राजनीति. बी.ए. पास स्कूल का चपरासी प्रवीण जिसने ये नौकरी पाने के लिए अपनी जमीन का हिंसा बेचकर आयो (मां) बाबा को नाराज किया था. जेल में रातों रात सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र करने, हथियार रखने के इल्जाम में नक्सलवादी प्रमाणित कर दिया जाता है. मार-मार कर कागज पर हस्ताक्षर ले लिए जाते हैं.

आभीर को पता लगता है कि अकेला प्रवीण ही नहीं है—राज्य के हजारों आदिवासी युवक जेलों में बंद हैं, नक्सलियों के मुखबिर, सहायक या खुद नक्सली होने के आरोप में. आरोप सिद्ध नहीं होते लेकिन फिर भी ये जेल में घर से दूर सालों सड़ते रहते हैं. लेखक के अनुसार इस जमीन का सच जानना है तो आकर देखो भूमि अधिग्रहण और खून में नहाया अधिग्रहण विरोधी जनसंघर्ष, हरियाली में छिटके खून के छींटों के बीच मार्च करती फौजें. मृतकों के फाइल फोटोज, विलाप करते परिवारजन—सत्ताधारी मनुष्य के लालच और क्रूरता की क्रूरतम अभिव्यक्ति.

और इस क्षेत्र का शिक्षा विकास? आभीर का स्कूल बंद है. वह सशस्त्र सुरक्षा बलों के अस्थायी कैंप में बदल चुका है.

ऐसे कांडों के बाद मुसीबत आती है सारे गांवों की. कहर टूट पड़ता है—'नक्सली पालते हो?' 'उन्हें खाना पहुंचाते हो?' 'साले नक्सलियों को छिपाकर रखते हो?' फौजियों के बूटों की आवाजें, हथियार लादे ट्रक, गोलियों या विस्फोटों की आवाजें. अपना खौफ ये सब आदिवासियों के दिमाग में बिठा देना चाहते हैं इनके शरीर पर बने गुदनों की तरह. किसी के घर में तलाशी के नाम पर कोने में छिपाए संदूक में सूअर को बेचकर कमाए रुपये छीन लिए जाते हैं. प्रवीण की पत्नी बहामनी तो लुटेरों की जागीर ही बन गई है प्रवीण के लिए पूछताछ के बहाने जब तब झिंझोड़ने के लिए. जमुना कराहकर चीख उठती है, 'मास्टर जी, बिना मर्द वाला घर में क्या खोजने आता है सिपाही?'

और यहां से लड़कियां भी गायब होने लगी हैं. चौदह-पंद्रह बरस की बेला व बाहा दबी सहमी-सी मेमने की तरह थाने में पड़ी

सामूहिक रूप से लुटती रहती हैं. इनसे प्रश्न पूछा जाता है, 'किस नक्सली नेता के बगलगीर रहती है?'

इनकी आयो व बाबा यहां पूछताछ के लिए आते हैं तो उन्हें झूठ बताया जाता है कि इनके पास हथियार, पोस्टर्स और कागज बरामद हुए हैं. इन्हें जेल भेज दिया है. 'कालचिती' में वह दृश्य देखने लायक है जब इन दो कबूतरी-सी सहमी लड़कियों को कोर्ट लाया जाता है तो किस तरह अचानक ये दोनों एक लड़के के साथ तेजी से भागकर दीवार फलांगकर नक्सलियों से जा मिलती हैं.

आभीर भी जब बेला के बुलाने पर कुछ नक्सलियों से छिपकर मिलने जाता है तो इस 'मोस्ट वांटेड' विद्रोही बेला का आत्मविश्वासी रूप देखकर गश खा जाता है. ये दल झूठे आरोप में फंसाए गए यहां के लोगों को बचाना चाहता है, अपनी जमीन बचाना चाहता है. इनके घर लौटकर जाने के रास्ते बंद हो चुके हैं क्योंकि बंदूक वालों को एनकाउंटर करने का बहाना मिल जाएगा. इनका क्या ठिकाना. एक केन्दु चुनते बच्चे पर ही फायरिंग कर डाली थी. बदले की आग में लैंडमाइन द्वारा सात फौजी जवानों के परखच्चे उड़ गए—ऐसा समाचार अखबार में सुर्खी पा जाता है.

चार समाज सेविकाएं कालचिती में सर्वे करने आई हैं—लोग डरकर भाग गए हैं. लोकतंत्र पर विश्वास करने वाला, साहित्य प्रेमी एक साधारण शिक्षक आभीर बंदूक न उठाकर भी इनकी लड़ाई से जुड़कर इनके हक के हल की खोज करने गायब हो जाता है. सारा गांव उजाड़ पड़ा है. वे खोजती रह जाती हैं मनुष्यों को—वैसे तो सब कुछ है—उदास पेड़, घास, पौधे, जंगल के झुरमुट. यहां बचे है टीका मांझी, एक बूढ़ी, चाईबासा व घाटशिला से भागकर आए जमुना के परिवारजन. बीरेन, ससुर सुगेन के साथ है दो बंजर, बलत्कृत निर्जीव औरतें जमुना व बहामानी.

इन सबके बीच एक फौजी जीप गुजर रही है. एक नंग-धड़ंग बच्चा उसके सामने आकर, अपनी जान जोखिम में डालकर उसे रोकने की कोशिश करता है व मूलवासी ड्राइवर को संथाली में बताता है आगे की पुलिया के नीचे बम लगाया हुआ है. जब उसे सब धन्यवाद देते हैं तो वह मासूमियत से इन्हें इंसानियत का पाठ पढ़ाता है, 'सबका जान बराबर है तो धन्यवाद क्यों?'

जी, मुझसे बिल्कुल नहीं होगा, मेरे पास शब्द ही नहीं हैं, कलम अपराध बोध से थरथरा रही है, थाने में जमुना को बुलाकर लम्बी निर्लज्ज, निर्वस्त्र पूछताछ का वर्णन करूं. ये तो आपको खुद पढ़कर जानना होगा कि औरत को देवी माने जाने वाले इस देश में एक आदिवासी स्त्री के साथ पूछताछ के बहाने क्या क्या हो सकता है? गांव के गांव खाली करवाने के लिए क्या कुकृत्य किया जाता है, इसका पता उपन्यास के अंत में चलता है.

इन तमाम बारूदों के विस्फोटों के बीच आदिवासियों की उत्सव प्रियता, स्त्रियों के लोकगीत सुमधुर रुन-झुन से बजते रहते हैं. गांव के लोग बंधकों को घेरे बैठे हैं और पास की झोंपड़ी की स्त्रियां मूंज की झाड़ू बनातीं अपनी भाषा में गीत गा रही हैं जैसे तूफान में कोई चिड़िया गाती हो. संक्रांति व टुसू त्योहारों की महक है जिसमें औरतें गाती जाती हैं, नृत्य करती हैं :

'तोके के दिल हो साड़ी ऐमोन, के दिल हो साड़ी एमोन.'

उपन्यास के आरंभ में अल्बेयर कामू के एक कथन को देकर—'रिबेलियन केन नॉट एग्जिस्ट विदाउट अ स्ट्रेंज फॉर्म ऑफ अ लव' यानी प्रेम की अद्भुत उपस्थिति के बिना क्रांति संभव नहीं है. बहुत सुंदरता से आभीर व जमुना के बीच के सुरीले रिश्ते का संकेत दिया है. इसमें जगह जगह स्थानीय भाषा का प्रयोग करके इसे बहुत प्रामणिक बना दिया है. शेखर की कंटीली भाषा, उनके कोंचते प्रश्न, सच में आदिवासियों की मर्मांतक स्थिति पर सोचने को मजबूर कर देती है. बस इस उपन्यास से शिकायत है कि संजीव जी के 'फांस' की तरह लेखक आदिवासियों के धार्मिक अंधविश्वास के कारण उनके शोषण के वर्णन से क्यों चूक गए?

रोज-रोज अत्याचारों में पिसने से तो अच्छा है ठौरहीन शहर में पनाह लेना, किसी बनती इमारत का ईंट-गारा ढोना. और रात में अलाव तापते किताबों के घड़ियाली आंसुओं में अंकित हो जाना कि बेचारे बेघर लोगों ने शानदार इमारत बनाने में योगदान दिया. यही नियति है घाटशिला के 'कालचिती' की. इन विषम परिस्थिति में जीते आदिवासियों के इस जीवन वर्णन से सरकारी हाकिमों की आंखें क्या खुल पाएंगी या आदिवासी संथाल, मुंडा, हो, बिरहोर, भूमिज, सब बचे रहने की शाश्वत लड़ाई लड़ते आए हैं—लड़ते ही रहेंगे? क्या कभी बहुमंजिली इमारतों व जंगलों में रहने वालों के लोकतांत्रिक अधिकार कभी एक होंगे. क्या कभी शहरियों की, मीडिया की चिंताएं मध्यम वर्गीय हितों जैसे पे कमीशन, महंगाई, घोटाले, सेवानिवृत्ति की उम्र, सार्वजनिक स्थानों पर सुविधाओं की चिंता के साथ इन जनजातियों के संघर्ष का भी पक्ष लेंगी? ये बहुत बड़ा प्रश्न उपन्यास आभीर के माध्यम से उठाता है, 'ये झूठा लोकतंत्र है. सामंती राज और औपनिवेशिक राज के चरित्र से ये तंत्र और व्यवस्था मुक्त कहां है? इसे ना गांधी का 'स्वराज मॉडल' कह सकते, ना भगत सिंह के सपनों का आजाद भारत.'

❐

पुस्तक : कालचिती (उपन्यास)
लेखक : शेखर मल्लिक
प्रकाशक : किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य : 350 रुपए

संपर्क : अर्बन स्पेस, फेज-1, फ्लैट नं.904, बी-विंग, दोराबजी पैराडाइज के निकट, एन आई बी एम, उन्दरी रोड, पूना-411060 महाराष्ट्र,
मो. : 9925534694
ईमेल : kneeli@reddiffmail-com

धुंध से बाहर निकलने की यात्रा

शहंशाह आलम

परख

यह समय धुंध का समय है. यह धुंध, यह कुहासा, यह कोहरा ऐसा है, जो हमारे विचारों पर छोटे-छोटे वाष्प-कणों से बनी भाप की तरह जम गया है. हमारे विचारों पर जमी यह वह धुंध नहीं है, जो शीत के दिनों में हमको दिखाई देती है. यह हवा में उड़ती हुई धूल से से बनी धुंध भी नहीं है. यह धुंधका से निकलने वाले धुएं से बनी धुंध भी नहीं है.यह धुंध ऐसी है, जो हमारे दिमाग में इस तरह पसरकर बैठ गई है, जो खुद का न कुछ देखने देती है, न कुछ समझने देती है, न कुछ करने देती है. हम बस वही देखना चाहते हैं, वही समझना चाहते हैं, वही करना चाहते हैं, जो सत्ता पक्ष हमसे अपनी चाहत रखता है. यह बात याद रखी जानी चाहिए कि सत्ता पक्ष की चाहत किसी शायर की चाहत, किसी अफसानानिगार की चाहत, किसी उपन्यासकार की चाहत, किसी डायरी लिखने वाले की चाहत या किसी संस्मरण लिखने वाले की चाहत कभी नहीं रहती. एक शायर, एक अफसानानिगार, एक उपन्यासकार, एक डायरीनिगार, एक संस्मरणकार की जो चाहत रहती आई है, वही चाहत राधेश्याम तिवारी अपने संस्मरणों की पुस्तक 'कोहरे में यात्रा' में रखते दिखाई देते हैं. यानी यह किताब, हमारे दिलो दिमाग में वैश्विक स्तर पर तानाशाहों के जरिए एक भयावह दुनिया की जो धुंध पैबस्त की जा रही है, उस धुंध से बाहर निकलकर एक सुंदर दुनिया, जो संवेदनशील है, प्रेम से, आत्मविश्वास से भरी है, उस दुनिया में लिए चलने की एक उम्दा कोशिश है.

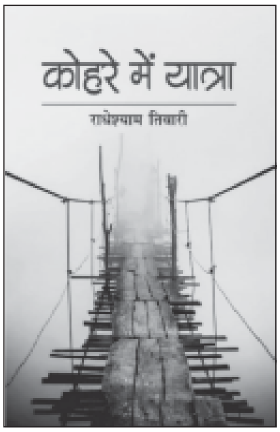

मैं संस्मरण लिखना किसी कहानी, किसी उपन्यास लिखने से कठिन मानता हूं. कहानी लिखते हुए, उपन्यास लिखते हुए आप झूठ का सहारा ले सकते हैं, कल्पना का सहारा ले सकते हैं, बनावटी बातों का सहारा ले सकते हैं. संस्मरण लिखते हुए आप ऐसा करने की कोई भी कोशिश करेंगे, तो इस विधा की जो अपनी आत्मा है, उसके नष्ट होने का खतरा बना रहता है. राधेश्याम तिवारी ने अपने संस्मरणों को लिखते हुए अपनी आत्मा को बचाया है. अपने ज्ञान को, अपनी स्मृति को बचाया है. यही वजह है कि 'कोहरे में यात्रा' के सारे संस्मरण विश्वसनीय और आत्मीय लगते हैं. राधेश्याम तिवारी का जो अनुभव मुक्तिबोध, नागार्जुन, शमशेर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह आदि की कविताओं को पढ़कर 1977 के दशक में हुआ था, वैसा ही अनुभव त्रिलोचन की कविताओं को पढ़कर भी हुआ. जाहिर है, त्रिलोचनजी से राधेश्याम तिवारी की 'परिचय की यह गांठ' हमेशा के लिए बंधी रह गई.

विष्णु प्रभाकर को राधेश्याम तिवारी एक गांधीवादी वैष्णव मानते हैं, तो गलत नहीं करते हैं. विष्णु प्रभाकर जी से मेरी भी दो मुलाकातें हो चुकी हैं, एक मर्तबा जमालपुर में और दूसरी मर्तबा पटना में. चिट्ठी-पतरी तो इतनी दफा हुई है कि पूछिए मत. मेरे संपादन में निकलने वाली फोल्डर पत्रिका 'इतिहास' का एक अंक विष्णु प्रभाकर जी की लघुकथाओं पर मैंने केंद्रित किया था. सबसे रोचक बात यह थी कि मैंने इस बाबत जब उन्हें खत लिखा था, तो उन्होंने सहर्ष अपनी लघुकथाएं भिजवाई थीं. विष्णु प्रभाकर जी सचमुच के 'आवारा मसीहा' थे, जो यात्राओं में रहकर खुद को फैलाते थे. तभी राधेश्याम तिवारी उनसे मुलाकात के बहाने लिखते हैं, 'मैंने देखा कि विष्णु जी दाएं हाथ में छड़ी लिए हुए वहां आ गए. विष्णु जी वामपंथी नहीं थे, लेकिन बाएं हाथ में छड़ी लेकर चलते थे. विचारधारा चाहे जो भी हो, लेकिन छड़ी पकड़ने की यह समानता सब में एक-सी है ('एक गांधीवादी वैष्णव', पृ. 27-28).' यह सही है, संस्मरण तभी तक संस्मरण है, जब तक वह पूरी सच्चाई से लिखा जा रहा है. राधेश्याम तिवारी की खासियत यही है कि वे अपने किसी भी संस्मरण में सच्चाई का साथ नहीं छोड़ते. नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना को जो ताकत दी है, वह आलोचना के इतिहास का हिस्सा हमेशा रहेगी. नामवर जी वामपंथी आलोचक थे, इसमें संदेह नहीं. राधेश्याम तिवारी उनके वामपंथ को नया मोड़ यह लिखकर देते हैं, 'लीलाधर जगूड़ी ने स्मृति सभा में एक संस्मरण सुनाया. उन्होंने कहा कि नामवर जी के निधन के कुछ ही दिन

पूर्व वे उनके निवास (शिवालिक अपार्टमेंट) पर मिलने गए थे. उनके साथ अरुण कमल भी थे. नामवरजी उन लोगों को देखकर बहुत प्रसन्न हुए. जगूड़ी जी ने नामवर जी से पूछा, "कोई एक ही पुस्तक बचानी हो तो आप किसे बचाना चाहेंगे?" नामवर जी ने कहा, "एक नहीं, दो. पहली–गीता और दूसरी पुस्तक–रामचरितमानस." ऐसा राधेश्याम तिवारी ने नामवर जी पर लिखे 'अपने-अपने नामवर' शीर्षक संस्मरण में लिखा है. जाहिर है, उन्होंने सच लिखा है. लेकिन सवाल यह है कि क्या कोई कॉमरेड 'गीता' या 'रामचरितमानस' या 'कुरान' या कोई और धर्मग्रंथ बचाने की बात कहने मात्र से कॉमरेड नहीं रहेगा? दुर्भाग्य से ऐसे प्रश्न, जब कोई मर जाता है, तब खड़े किए जाते हैं. जबकि यह प्रसंग तब प्रकट किया जाना चाहिए था, जब नामवर जी जिंदा थे. तब भी, नामवर जी का सम्मान जितना उनके जिंदा रहते हुए था, उनके नहीं रहने से घटा नहीं है बल्कि हिंदी आलोचना में बढ़ा है. ऐसा होने के पीछे की वजह एक ही है, वह यह कि हिंदी आलोचना में नामवर सिंह जैसा आलोचक एक ही है. दूजा आलोचक बहुत कुछ हो सकता है, लेकिन नामवर सिंह नहीं हो सकता.

'कोहरे में यात्रा' के जितने संस्मरण हैं, कमोबेश सभी अपने समय के महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों की जिंदगी के हलफनामा हैं. इस पुस्तक में त्रिलोचन, विष्णु प्रभाकर, नामवर सिंह, कुंवर नारायण, राजेन्द्र यादव, केदारनाथ सिंह, कैलाश वाजपेयी, महीप सिंह, हरिपाल त्यागी, रामकुमार कृषक, कुबेर दत्त, महेश दर्पण, राधाकृष्ण, गोपाल सिंह नेपाली पर संस्मरण हैं. एक संस्मरण लेखक की उज्जैन यात्रा पर है और एक रांची यात्रा पर. ये सारे संस्मरण कथात्मक भी हैं और दृश्यालेख जैसे भी हैं. 'अपने को गहरी नींद में सोए हुए देखना' शीर्षक संस्मरण में 'तीसरा सप्तक' (1959) के कवि कुंवर नारायण को स्मरण करते हुए राधेश्याम तिवारी लिखते हैं, "किशोरावस्था में ही कृपलानी एवं आचार्य नरेंद्र देव का उन्हें सान्निध्य मिला, जिससे राजनीति एवं धर्म-दर्शन की नींव उनके किशोर मन पर पड़ी. वे अपनी पहली ही विदेश यात्रा में नाजिम हिकमत, एंटोनस्वानीम्स्की तथा पाब्लो नेरूदा जैसे विश्व प्रसिद्ध कवियों के संपर्क में आए. लेकिन भारतीय मन भारतीयता की तलाश में पौराणिक मिथकों में जाते हुए वर्तमान तक की यात्रा करता रहा (पृ. 41)." इसी तरह 'राजेन्द्र यादव : एक आत्मीय शत्रु' शीर्षक संस्मरण को पढ़ते हुए आप राजेन्द्र यादव जी को साक्षात खुद के पास पाते हैं. राजेन्द्र यादव जी से मेरी भी मुलाकात है. वे न खुद हताश होते थे, न किसी को हताश करते थे. राजेन्द्र यादव पर लिखा संस्मरण दो खंडों में है. राजेन्द्र यादव की दुनिया संकुचित नहीं थी. यही वजह है कि उन पर लिखा गया संस्मरण फैलाव लिए हुए है. इसी तरह 'कई छवियों के कवि' में केदारनाथ सिंह को, 'यादों के स्वर्ग में कैलाश' में कैलाश वाजपेयी को, 'बचे रहेंगे महीप सिंह' में महीप सिंह को, 'एक स्वाभामिनी कलाकार' में हरिपाल त्यागी को, 'एक अनुरागी व्यक्तित्व' में रामकुमार कृषक को, 'कुबेर का फोन' में कुबेर दत्त को, 'हम सबके आत्मीय' में महेश दर्पण को, 'राधाकृष्ण : अपने समय के रचनाकार' में कथाकार राधाकृष्ण को, 'कोहरे में यात्रा' में गोपाल सिंह नेपाली को प्रत्यक्ष देखते हुए राधेश्याम तिवारी ने इन सारे किरदारों को जिंदा कर दिया है. ये सारे संस्मरण आप भी पढ़ेंगे, तो मेरे इस विचार से सहमत होंगे कि राधेश्याम तिवारी के ये संस्मरण आप जितनी दफा पढ़ते हैं, इन संस्मरणों को और-और पढ़ने की चाहत आपके मन में बची रहती है.

दरअसल हम लेखकों का जो रचनात्मक कर्म है, उस कर्म को, इन संस्मरणों के माध्यम से, हम सब में बचाए रखने के लिए राधेश्याम तिवारी हमको उकसाते हुए दिखाई देते हैं. इनके उकसाने का यह तरीका इतनी मुहब्बत से भरा है कि आप किसी साहित्यिक यात्रा पर निकल जाना चाहते हैं, जिस तरह राधेश्याम तिवारी 'कुंभ में कविता' और 'रांची यात्रा : पहाड़ की रोशनी' की यात्रा पर निकले थे और इन यात्राओं से अपने भीतर के कवि को मजबूत करके लौटे थे. यह सही है कि यात्राएं आपको आपके समय के 'मकड़ी-जाला' से बाहर निकालती हैं. इन संस्मरणों को लिखते हुए राधेश्याम तिवारी ने अपनी कवि-दृष्टि को अधिक सजग रखा है. उनकी यह दृष्टि एक रचनाकार को एक अलग विचार, एक अलग संवेदना, अलग काल-बोध, अलग कला, अलग भाषा और अलग रागात्मक विस्तार देती है. और यह भी कि यह दृष्टि विरासत को बचाए रखने की ललक भी हममें पैदा करती है. यही कारण है कि अपने इन संस्मरणों में जो साहित्यकार अब हमारे बीच नहीं रहे, उनकी यादों को, उनकी स्मृतियों को, उनकी जानकारियों को राधेश्याम तिवारी सहेजकर रख लेना चाहते हैं.

❐

पुस्तक : कोहरे में यात्रा (संस्मरण)
लेखक : राधेश्याम तिवारी
प्रकाशक : संजना प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य : 195 रुपए

संपर्क : हुसैन कॉलोनी, नोहसा बागीचा, पूरब वाले पेट्रोल पाइप लाइन के निकट, नोहसा रोड, फुलवारी शरीफ, पटना-801505 (बिहार)
मो. : 9835417537
ईमेल : shahanshahalam01@gmail.com

अपने समय का संवेदनशील ढांचा

राजीव कुमार

परख

किसी भी विधा में नई संवेदना के आगमन तथा शिल्पगत परिवर्तन की प्रक्रिया निरंतर गतिशील होती है और प्रायः उसकी गति मंथर होती है. लेकिन समय के किसी बड़े परिवर्तन के साथ इस परिवर्तन की गतिशीलता तीव्र हो जाती है. भूमंडलीकरण का प्रभाव भारतीय समाज पर छा जाने के बाद हिंदी कहानी में भी ऐसा ही रुझान दृष्टिगोचर होता है. इस दौर में पूरी तरह एक नई पीढ़ी उभरकर सामने आती है और समकालीन भाव-बोध परिवर्तन और जड़ता के विरोधाभास, संस्कृति के बदलाव जैसे तमाम प्रश्नों को सामने लाती है. अब तक इस नई पीढ़ी के आगमन का एक लंबा अरसा गुजर चुका है और पत्र-पत्रिकाओं में उनकी तमाम कहानियां और एकाधिक संग्रह आ चुके हैं. प्रश्न है कि इस पूरी पीढ़ी का समन्वित मिजाज क्या है? एक पीढ़ी के रूप में उनके सरोकार क्या हैं? इस सरोकार को स्पष्ट करने का प्रयास युवा आलोचक एवं *बनास जन* पत्रिका के संपादक पल्लव के संपादन में कौटिल्य बुक्स से आईं दस युवा कहानीकारों की 'मैं और मेरी कहानियां' शृंखला की दस कहानी संग्रहों में हुआ है. इस संग्रह के परामर्शदाता हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार असग़र वजाहत हैं. इन कहानी संग्रहों के माध्यम से कमोबेश इस समय के कथा- रुझान के हर आयाम को समेटने का प्रयास किया गया है.

मो. आरिफ समकालीन नए कहानीकारों की पंक्ति के सर्वप्रमुख कहानीकारों में हैं. उनकी 'चोर सिपाही' शीर्षक कहानी अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय की मानसिक बुनावट, उसके अंतर्द्वंद्व और दहशत को बेहतरीन ढंग से अभिव्यक्त करती है. दो मित्र जो अलग-अलग धर्मों के हैं उनके

अंदर समाज में फैली रंजिश किस प्रकार की अजनबीयत सृजित करती है उसे यहां देखा जा सकता है. अजनबीयत की प्रक्रिया कहानी में मामू (इस्माइल) के अंदर घटती है, उसका दोस्त मनसुख उस पीड़ा को नहीं झेल रहा है जिसे मामू भोग रहे हैं. बाहर की घनीभूत होती हैवानियत, रंजिश मामू के अंदर दहशत, डर और अविश्वास के रूप में इकट्ठा होता जाता है. एक दिन मनसुख आता है तो वे बेड के नीचे छुप जाता है. मनसुख शर्मिंदगी और बेबसी महसूस करते हैं, दूसरी ओर मामू की दहशतजदा आवाज निकलती है, ''मनसुख ...मैं बाहर निकल सकता हूं...कुछ करोगे तो नहीं?'' इस समुदाय विशेष की दुश्चिंता को समझने की दृष्टि से हिंदी की कुछ महत्वपूर्ण कहानियों में से एक है. 'मियां' और 'तार' इसी समुदाय से जुड़े संवेदना के अन्य आयाम को प्रस्तुत करती हैं. 'मौसम' बेरोजगारी की समस्या पर है. 'फुर्सत' मध्यवर्गीय जीवन के जद्दोजहद के बीच दांपत्य जीवन के रागात्मक को बहुत ही सुंदर ढंग से व्यक्त करती है. 'लू' भारतीय समाज में जातिगत विभेद तथा व्यवस्था के अंदर सामंतवादी सोच के अंतर्संबंध एवं दुष्परिणाम को अभिव्यक्त करती है. जातिगत रंजिश की खाई इतनी चौड़ी हो गई है कि कहानी में जोगी पासवान अपनी प्रेमिका-पत्नी को 'अपना' न समझकर जाति के हिसाब से देखता है. मो. आरिफ हमारे समय के पारिवारिक-सामाजिक जीवन के प्रमुख चितेरे हैं.

तरुण भटनागर की कहानियों की दुनिया में पर्याप्त विविधता है. वे बस्तर क्षेत्र के आदिवासियों की 'जल-जमीन-जंगल' के प्रश्न को अभिव्यक्ति देने वाले प्रतिनिधि कथाकार हैं. वे आधुनिक जीवन की तमाम समस्याओं और विरोधाभासों को प्रमुखता से रखते हैं लेकिन वे सिर्फ सामाजिक जीवन ही नहीं मानवीय जीवन की भावनात्मक-रागात्मकता, उद्दामता को भी बहुत सुंदर एवं संतुलित ढंग से पेश करते हैं. इसका उदाहरण 'चित्र पर थरथराती उंगलियां' हैं. कहानी के नायक-नायिका किंचित प्रौढ़ हो चुके हैं. उनके घर में उनके युवा दिनों की कुछ पोर्न पत्रिकाएं हैं. बच्चे के कारण हटाना चाहते हैं, लेकिन फिर वे ऐसा नहीं करते. दरअसल तरुण भटनागर में अभिधा को मेटाफर में बदलने की बेहतरीन क्षमता है. वे ऊपरी स्तर पर जो कुछ कर रहे होते हैं, कहानी के आंतरिक स्तर पर उससे कहीं गहरा अर्थ व्यंजित होता है. इन पत्रिकाओं को न फेंकना-हटाना दरअसल स्मृतियों और भावनाओं को संरक्षित

रखने का प्रयास है. इसी का एक आयाम 'दि रॉयल घोस्ट' में दिखाई देता है जिसमें तरुण सक्षम-समर्थ लोगों के छोटी-छोटी चीजें चोरी करने के मनोवैज्ञानिकता तथा कहानी में बुआ द्वारा इसी तरह की चीजों को चुराकर रखने की कथा के माध्यम से आज की तकनीकी, बाजारवादी दुनिया में लालसा और कामनाओं के विराट प्रदर्शन के बीच मानवीय जीवन से छीनी जा रही स्मृतियां, सहजता को मेटाफर रूप से व्यक्त करते हैं. 'टेबिल' में तंत्र की भयावहता तथा वहां से संवेदना के पूर्णतः ह्रास की कथा कही गई है. 'जंगल में चोरी' बस्तर के आदिवासियों के जीवन की अकिंचनता और सहजता को तथाकथित सभ्य समाज की लोलुपता, कृत्रिमता के बरक्स पेश करती है. यह कहानी बस्तर के आदिवासी क्षेत्र के पिछड़ेपन को मार्मिक ढंग से पेश करती है. तरुण की कहानियों में निरंतर एक मानवीय अपील है जो लघुता के पक्ष में है.

अजय नावरिया समकालीन युवा कहानीकारों के बीच प्रतिनिधि दलित कहानीकार हैं. विकास प्रक्रिया में दलित के साथ हुई और हो रही ज्यादतियों और अन्याय और सामाजिक वर्णवादी-जातिवादी संरचना में दलितों के साथ होने वाली ज्यादतियों को पक्षधरता एवं सुलझे हुए दृष्टिकोण के साथ रखा है. इनकी कहानियों में एक बात विशेष है और वह है दलितों का स्वाभिमान, आत्मसम्मान और संघर्ष चेतना. 'उपमहाद्वीप' शीर्षक कहानी में शहर में रह रहे दलित नायक में गांव की कटुता एवं तिक्तता से भरी यादें हैं. वहां स्थिति अब भी नहीं बदली है. लेकिन नायक पलायनवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाता. 'इज्जत' एक बहुआयामी कहानी है जिसमें स्त्री-प्रश्न, दलितों से जुड़े जातिगत प्रश्न, समाज पर वर्णवादी वर्चस्व तथा दलित नायिका में पारंपरिक जड़ता को तोड़कर आगे बढ़ने की चेतना के जटिल ताने-बाने को बहुत ही यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया गया है. कहानी में उषा हेल्थ सेंटर पर नर्स की नौकरी करती है पर यहीं कंपाउंडर की नौकरी करने वाला तथा डॉक्टर के लगातार अनुपस्थित रहने के कारण अपने को डॉक्टर मान बैठा जयदेव उस पर कुदृष्टि रखता है. इस कुदृष्टि का कारण उषा का सिर्फ महिला होने में नहीं बल्कि उसका तथाकथित निम्न जाति का होने में भी है. जयदेव, सुखवीर उसके देह शोषण का स्वाभाविक अधिकार समझते हैं. अंततः अपनी चाल में सफल होते हैं लेकिन उषा सामाजिक लांछन के पुरानी मनःस्थिति का शिकार नहीं होती. वह संघर्ष की चेतना अपने में भरती है, ''... मैं क्यों मरूं, ऐसे चुपचाप मरने से तो इनकी हिम्मत बढ़ी है, मैं रोऊंगी नहीं, चिल्ला-चिल्लाकर सबको बताऊंगी, चौपाल पर खड़ी होकर चिल्लाऊंगी, और वह चिल्लाने लगी—इज्जत...इज्जत, थूकती हूं ऐसी झूठी और कमजोर इज्जत पर.'' (पृ. 34) अजय नावरिया की कहानियों से गुजरना दलित जीवन की पीड़ा, यातना के साथ उनकी परिवर्तित चेतना को भी जानना-समझना है. यह ऐसी चेतना है जो यथार्थ को रखते हुए हतोत्साह नहीं करती है, आगे की राह दिखाती है.

यह सच है कि युवाओं की कहानियों में ग्रामीण जीवन की नवीन पेचीदगियां कम हैं. मनोज पांडेय की कहानियों में 'बचपन' के संदर्भ में है. अजय नावरिया में इसकी कुछ झलक दलितों के जीवन से संबंधित होकर आती है. संदीप मील की कहानियों में यह प्रमुखता से है. संदीप मील में वैचारिक आग्रह भी खासा है और वह दो रूपों में कही कहानी में किस्सागोई को अतिक्रमित कर एक वैचारिक प्रस्तुति बन जाती है और कथात्मकता का ह्रास होता है जैसे कि 'शहादत से सौदे तक' में. यह तथ्य इसलिए रेखांकित करना आवश्यक है कि युवा पीढ़ी में वे जबर्दस्त किस्सागोई रखते हैं और जहां उन्होंने वैचारिकता और बौद्धिकता का अतिरिक्त आग्रह नहीं रखा है वहां उनकी कहानी पढ़ने में, सुनने का-सा आनंद आता है. जैसे 'दूजी मीरां' और 'कोकिलाशास्त्र' जैसी कहानियों में. उनकी कहानियों का विषय जान-पहचाना है, पर उसे वर्तमान संदर्भ में रखकर तथा किस्सागोई से बेहतरीन रचना में ढाल देते हैं. कहानी समाज और एंबियांस राजस्थान का है, वहां के सामंती ढांचे, जीवन एवं सोच की जड़ता लोगों की मानसिक संरचना तथा व्यवहार प्रणाली की मजबूत पकड़ तथा उसे उसी रूप में संप्रेषित कर देने की गजब क्षमता उनमें है—''...लोग दूसरे दिन कहने लगे कि एक छोरा 'मीरां' के साथ 'टॉक' करता है. कल उसने चौधराइन को भी फोन करके मीरां के साथ टॉक करवाने को कहा तथा इस 'टॉक' का मतलब किसी को मालूम नहीं था. हर कोई अपना अर्थ लगा रहा था लेकिन मूलतः वह अर्थ मीरां के चरित्र पर ही जाकर टिकता था.'' 'दूजी मीरां' में संदीप मील ने राजस्थान के सामंती जीवन, जातिगत टकराव, खोखली आक्रामकता एवं स्त्रियों के प्रति सोच को सामने रखा है. पर मीरां जो कि गांव से शहर पढ़ने जाती है इसका अतिक्रमण करती है. 'कोकिला कथा' प्रतीकात्मक रूप से प्रकृति और पर्यावरण के साथ होने वाली छेड़छाड़ के भयंकर दुष्परिणाम की कथा कहती है कि प्राकृतिक छेड़छाड़ से एक आर्थिक आश्वस्त समाज तो बन सकता है पर वह निरंतर दहशतजदा होगा.

राकेश मिश्र तथा मनोज कुमार पांडेय इस पीढ़ी के सबसे प्रमुख चेहरों में हैं. इनकी कहानियों में विषयों की विविधता है तथा भाषा एवं अभिव्यक्ति का अपना निजपन. मनोज की भाषा की सहजता तथा राकेश मिश्र के 'डिक्शन' ने सबको आकर्षित किया है. राकेश मिश्र की कहानियों की दुनिया में दो-तीन प्रमुख रुझान है—युवाओं को (लड़कों को) प्रेम में प्राप्त होती तिक्तता, कैरियर का संघर्ष और संबंधों का कॉमोडिटिफिकेशन. लेकिन इसके साथ ही सांप्रदायिक विद्वेष, निचले पायदान पर मौजूद लोगों के साथ होने वाली अमानवीयता तथा यूटोपिया एवं

एंटी-यूटोपिया का द्वंद्व वहां मौजूद यूटोपिया एवं एंटी यूटोपिया संघर्ष एवं अवसाद पर लिखी गई बेहतरीन कहानी है लालबहादुर का इंजन. इस कहानी में असंभव को पाने की जो जद्दोजहद है वह दरअसल हास्यास्पद नहीं है जैसा लालबहादुर के साथ समाज करता है. दरअसल अपने मेटाफर में यह कहानी इस तथ्य को रखती है कि प्रतिकूलता के कारण किस प्रकार नवाचार अथवा महान सपने का अंत होता है. लालबहादुर का हवा से चलने वाली इंजन का सपना नवीन उन्मेष का सपना है. वैचारिक प्रतिबद्धता रखते हुए भी राकेश पॉलिटिकल करेक्टर्नस का आग्रह नहीं रखते. 'बाकी धुआं रहने दिया' और 'तक्षशिला में आग' इन दोनों कहानियों में प्रेम का जो हश्र है वह कैरियरवादी तथा मानवीयता विहीन समाज के यथार्थ को रखती है. तक्षशिला में आग के द्वारा आज के कैंपस के उद्वेलन को भी समझा जा सकता है. 'शह और मात' सांप्रदायिक विद्वेष से भरे माहौल में मानवीयता एवं बड़प्पन की कहानी है तो 'गांधी-लड़की' समाज की बेशरमी में निचले पायदान पर मौजूद लोगों के साथ होने वाली अमानवीयता की कथा है.

मनोज पांडेय की कहानियों का रेंज बहुत बड़ा है. कहानीकार की सर्वप्रमुख विशिष्टता है कि उसके विषय के सेंटीमेंट में कोई गैप नहीं रहता. वह अनुभव का क्षेत्र हो अथवा अवधारणा का—दोनों ही तरह के विषयों पर मनोज ने मुकम्मल ढंग से कहानियां लिखी हैं. मनोज की कहानियों में बचपन एंटी यूटोपिया की तरह है. जातिवादी समाज, हृदयहीन शिक्षक, परिवार की पुरुषवादी संरचना, बुजुर्गों का वात्सल्य विमुख रवैया. 'शहतूत' तथा 'जींस' में इसकी झलक देखी जा सकती है. यद्यपि जींस में दादी का पीड़क रूप सामने आता है, लेकिन इसके आंतरिक स्तर की पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि पुरुष-वर्चस्ववादी पारिवारिक व्यवस्था की कंडिशनिंग है जिसमें पुरानी पीढ़ी की स्त्रियां नई पीढ़ी की स्त्रियों के प्रताड़ना का कारण बन जाती है. खजाना में जाति-दर्प से चूर अकर्मण्य-अभिशप्त समाज की विडंबनाओं को दर्शाया गया है. राम अभिलाष जहां कर्मठता से उजाड़ टीले को रौनक से भर देते हैं वही जाति दर्प में चूर, मिथकों में जीने वाले वंशज उसको हास्यास्पद बना लेते हैं. खाट बौद्धिक समुदाय के स्वांग एवं दोहरेपन को उजागर करती है. 'पानी' हाल के वर्षों में हिंदी की सबसे चर्चित और सराही गई रचना है जिसमें एक तालाब को पाटकर जमीन बनाने की परिघटना के कारण समाज में आई त्रासद स्थिति का वर्णन है. पर्यावरण से छेड़छाड़ मनुष्य की अंतहीन लालसा की विडंबनात्मक परिणति को यहां बखूबी उकेरा गया है. मनोज इस पीढ़ी के ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने अपने समय की कूपमंडूकता, जड़ता और संकीर्णता को निरंतर उद्घाटित किया है.

विमल चंद्र पांडेय की कहानियों के केंद्र में युवाओं का संघर्ष, सामाजिक विद्रूपता और विरोधाभास तथा मानवीय स्वभाव की विविधरंगी स्थिति का अंकन हुआ है. 'डर' कहानी में एक कमजोर और डरपोक लड़की की आत्मरक्षा की प्रक्रिया में डर को अतिक्रमित करने की कहानी कही गई है. 'मारण मंत्र' में सामाजिक जड़ता की अभिव्यक्ति है. 'मस्तूतों के इर्द-गिर्द' प्रेम, संघर्ष, मानवीय संबंध, हताश और जिजीविषा की बहुस्तरीय कहानी है. एक असफल व्यक्ति अपनी असफलता के अनुभव से जीवन और संबंध की तिक्तता को भरने की सलाह देकर सामाजिक रूप से सफल हुआ पर अंदर से खाली. यह तब भरता है जब उसे प्रेम मिलता है. मानवीय संबंध और जिजीविषा का पक्ष लेती यह सुंदर कहानी.

कविता, आकांक्षा पारे काशिव तथा वंदना राग ने इस श्रृंखला को अपने स्त्री दृष्टिकोण से समृद्ध किया है. हालांकि इनकी कहानी की दुनिया को स्त्री-जीवन तक सीमित नहीं किया जा सकता. मसलन आकांक्षा पारे काशिव की कहानी 'शिफ्ट, कंट्रोल, ऑल्ट=डिलीट' तकनीक द्वारा मानवीय संबंधों को अपदस्थ करने का जो नया रुझान समाज में व्यापा है उस पर लिखी बेहतरीन कहानी है. 'निगेहबानी' में कॉर्पोरेट दुनिया का संघर्ष और वहां की यातना है. 'कैंपस लव' युवा दिनों की प्रेम की कहानी है. प्रेम की एकल संरचना को तोड़ती है. 'दिल की रानी, सपनों का शहजादा' छोटे कस्बों में किस तरह प्रेम रूपाकार लेता है इसकी कहानी है. दरअसल आकांक्षा पारे काशिव की कहानियां आज के युवा जीवन की संबंधगत मनोभाव की नवीनता तथा आर्थिक बदलाव जनित सांस्कृतिक रुझान को प्रदर्शित करती हैं.

कविता की कहानियों में स्त्री के निजी अनुभव, पारंपरिक जड़ता को तोड़ने की कहानी है. 'पत्थर, माटी दूब...' अकेली लड़की के मातृत्व जिरह करने की कथा है. वह रूढ़ियों की परंपरा को स्वीकार करने से इंकार कर देती है. 'नदी जो अब भी बहती है' भी ऐसी ही कहानी है. वंदना राग की कहानियों में स्त्री-जीवन के यथार्थ के पारंपरिक और नवीन—दोनों रंग हैं. 'मोनिका फिर याद आई' एक ऐसी कहानी है जिसमें पढ़ी-लिखी लड़की को प्रेम संबंध के कारण पारिवारिक यातना और फरेब का सामना करना पड़ता है. प्रेम के अधिकार को छीना जाता है. 'नमक' में प्रेम की आसक्ति व्यक्त हुई है, जबकि 'क्रिसमस कैरोल' प्रेम की रागात्मकता को बहुत ही सुंदर ढंग से व्यक्त करती है.

अंततः यही कहना है कि श्रृंखला कहानियां हमारे समय का एक मुकम्मल संवेदनात्मक ढांचा प्रस्तुत करती हैं तथा हमारे कहानी आस्वाद को समृद्ध करती हैं.

❐

पुस्तक : मैं और मेरी कहानियां
(दस कहानी-संग्रह)
संपादन : पल्लव
प्रकाशक : कौटिल्य बुक्स, नई दिल्ली
मूल्य : 195 रुपए (प्रत्येक पुस्तक)

संपर्क : मो. : 8210871007
ईमेल : rajeevmanchi@rediffmail.com

वायरस डायरी

तसलीमा नसरीन

शब्दवेधी/शब्दभेदी

मार्च 29

क्या हम अपने वही पुराने जीवन में लौट पाएंगे? नहीं. क्या दुनिया फिर से पहले की ही तरह...? नहीं. नहीं कुछ भी पहले की तरह नहीं है. दुनिया बदल गई है, उसने हमें भी बदल दिया है. लेकिन इस तरह लॉकडाउन में हम कितने दिन गुजार पाएंगे? शायद ज्यादा दिन नहीं. इस तरह हाथ धोते, मास्क पहनते, दूसरे इंसान को कम से कम साढ़े तीन फुट की दूरी पर रखते-रखते, हम कितने दिन तक वायरस के चंगुल से बच पाएंगे? ज्यादा दिन नहीं. कोरोना हम सबको किसी न किसी दिन पकड़ ही लेगा. किसी को रिहाई नहीं मिलेगी. कोई कोरोना के चंगुल से बचकर निकल आएगा, कोई नहीं. हम सब वैक्सीन का इंतजार कर रहे हैं, है न? वैज्ञानिक कह रहे हैं वैक्सीन आने में 18 महीने लगेंगे. क्या हम यह सोच रहे हैं कि 18 महीने के बाद सात सौ करोड़ लोगों को वैक्सीन मिल जाएगा? बिल्कुल भी नहीं. उसके प्रोडक्शन में वक्त लगेगा. अगर हम मान लें कि एक दिन में सत्तर लाख वैक्सीन तैयार हो जाएगी, तो भी सात सौ करोड़ लोगों के लिए वैक्सीन बनाने में नौ हजार दिन लगेंगे. नौ हजार दिन का मतलब लगभग तीन साल. अब से लेकर 18 महीने अगर जोड़ें तो कम से कम चार साल का समय लगेगा. जब तक वैक्सीन की प्राप्ति नहीं होती, क्या हम वायरस से बच पाएंगे? मुझे तो नहीं लगता. बहुत से वैज्ञानिक भी ऐसा ही सोच रहे हैं. उनका भी यही सोचना है कि दुनिया में सभी इस वायरस से आक्रांत होंगे. कुछ का कहना है, सब संक्रमित न भी हों, मगर अस्सी प्रतिशत तो जरूर होंगे. साफ बात है, मौत आ रही है. हम लोग जो रिस्क ग्रुप में हैं उनके लिए बहुत जल्दी आ रही है. मृत्यु को लेकर हाहाकार करने के बजाय, जितने दिन मिले हैं, उन्हें बुद्धिमानी के साथ काम में लगाया जाए. हर दिन को सोचें कि यही हमारा आखिरी दिन है.

मार्च 30

कभी-कभी लगता है मैं शायद सो रही हूं और जो कुछ फिलहाल दुनिया में घट रहा है वो मेरे सपने में घट रहा है. नींद टूटते ही देखूंगी, सब कुछ पहले की तरह है.

मार्च 31

साल 1926 में हरियाणा के मेवात अंचल में मुहम्मद इलियास नाम के एक आदमी ने तबलीगी जमात की शुरुआत की थी. भारत में दुनिया के सबसे बड़े मदरसे का जन्म देवबंद में हुआ था. भारत में अहमदिया धर्म का जन्म हुआ. इस्लाम के प्रचार-प्रसार में भारत की बहुत बड़ी भूमिका है. तबलीगी जमात अब दुनिया में इतना फैल चुका है कि 150 मुल्कों से कुछेक करोड़ लोग इसमें हिस्सा लेते हैं. 27 फरवरी को मलेशिया में चार दिनों तक चलने वाले जमात के सम्मेलन में सोलह हजार लोगों ने हिस्सा लिया, जिसमें पंद्रह सौ विदेशी थे. भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश से तो थे ही, बल्कि चीन व दक्षिण कोरिया से भी आए हुए थे. मलेशिया के दो तिहाई अंश कोरोना रोगियों के वायरस भी चले आए उस तबलीगी जमात से. इस खबर के चारों तरफ फैलने के बावजूद किस तरह दिल्ली में तबलीगी जमात को सम्मेलन करने की अनुमति मिल गई, यह मेरी समझ के बाहर है. अब दिल्ली में तमाम मुल्कों के तबलीगियों ने वायरस को फैला दिया है. कितने हजार लोगों को उन लोगों ने संक्रमित किया है क्या उसका कोई हिसाब है? क्या उन्हें पता नहीं कोरोना की वजह से पूरी दुनिया में लोग सामूहिक रूप से मर रहे हैं? क्या उन्हें जमायत को बंद करना उचित नहीं था? क्या धर्मांधों में सामान्य मानवताबोध भी नहीं है? माना कि उन्होंने जानबूझकर वायरस नहीं फैलाया है, लेकिन अज्ञानता के अंधकार में लोग ऐसे भी डूबे रह सकते हैं कि पूरे विश्व में महामारी फैल गई और उसको लेकर उन्हें कोई चिंता नहीं. इस वक्त उनका धार्मिक सभा करना, मानवता के विरुद्ध क्षमा के अयोग्य अपराध करना है.

मैं सउदी अरब को सैल्यूट करती हूं. काबा बंद करने में जरा भी दुविधा नहीं की. उमराह को बंद कर दिया. नबी रोजा शरीफ के दर्शन बंद कर दिए, मस्जिदें बंद कर दीं. भारत में अब भी मस्जिदें खुली हुई हैं. लोग भीड़ कर मस्जिदों में नमाज अता कर रहे हैं. लॉकडाउन को नहीं मान रहे हैं. सोशल

डिस्टेंसिंग को नहीं मान रहे हैं. भारत को थोड़ा सउदी अरब जैसा होना चाहिए.

उज्बेकिस्तान, कजाकिस्तान, तजाकिस्तान इन देशों में तबलीगी जमात प्रतिबंधित है. तबलीगी हदीस कुरआन जो कहता है वही मानकर चलते हैं. चौदह सौ साल पहले लोग जिस तरह जीवनयापन करते थे, वे वैसा ही जीवन जीते हैं. आक्षरिक रूप से कट्टरपंथी हैं. जो देश आधुनिक होना या सभ्य होना चाहता है वो कट्टरपंथी आंदोलनों को बढ़ावा नहीं देता. अलकायदा जैसा संत्रासी दल तबलीगियों की आईडी का व्यवहार करके आतंक फैलाने एक देश से दूसरे देश भ्रमण करता रहा है. क्या इस धर्मांध गोष्ठी ने कभी समाज का कुछ भला किया है? प्रगति के विरुद्ध जाकर समाज को पीछे खींचने से मनुष्यों का उपकार नहीं अपकार होता है. इधर-उधर वायरस फैलाकर ये लोग कितने ही निरीह लोगों की मृत्यु का कारण बने हैं. कितनी भयंकर क्षति की है मानव जाति की.

धर्म मनुष्य को स्वार्थी, निष्ठुर, हिंसक एवं बेवकूफ भी बनाता है. मान लिया वे लोग बेवकूफ थे. सरकार ने क्यों विमान यात्रा को चालू रखा? उन सब देशों में भी विमानों ने बेधड़क आवाजाही की जहां वायरस जंगल में आग की तरह फैल चुका था. समय रहते उचित काम नहीं किया गया, इसलिए हजारों ताजा-तरीन जिंदगियां आज असमय ही झरी जा रही हैं.

अप्रैल 1

यह जो पूरा देश लॉकडाउन में है, इसका क्या फायदा, अगर बाहर से वायरस वाहक निश्चिंतता के साथ देश में आ जाएं, समूचे देश में घूमते रहें, हजारों लोगों के संस्पर्श में आएं! लॉकडाउन आखिरकार किसी काम नहीं आया. मलेशिया से बांग्लादेशी तबलीगी जमाती वायरस का कुछ अंश लेकर वापस बांग्लादेश लौट गए, क्या उन्हें क्वारंटाइन किया गया होगा? निश्चित ही नहीं किया गया होगा. बहुत ही दुख की बात है, धर्मांध लोग अपने सवाब, स्वार्थ, अपनी दुनिया के अलावा, दुनिया की और समस्याओं, मानव जाति के हाहाकार की ओर पलटकर भी नहीं देखते. इस जगत को लेकर वे जरा भी नहीं सोचते, बस परकाल एवं आलौकिकता को लेकर किसी खुमारी में रहते हैं, और उनकी समझ में जन्नतवासी होने के लिए जो कुछ भी करना जरूरी हो, चाहे जैसे भी हो, गैरमजहबी या काफिरों का खून करके ही क्यों न हो, वे करते हैं. वे युक्तिवादियों द्वारा लाए लोकतंत्र का भोग करते हैं, संघर्ष से अर्जन किए वाक् स्वाधीनता का उपभोग करते हैं, स्वास्थ्य सेवा, चिकित्सा का भोग करते हैं, उदारता, मानवता आदि सभ्य समाज के गुणों का उपभोग करते हैं और लगातार अनुदारता, अयुक्ति, अविज्ञान से लोगों की मगजधुलाई करते रहते हैं. इसी तरह सब चलता जाता है. कोई भी सरकार उन्हें बाधा नहीं देती.

दिल्ली की सभा से अब बहुत लोग शरीर में वायरस लेकर भारत में सर्वत्र, कश्मीर से कन्याकुमारी तक लौट गए हैं. उन्होंने अपने रिश्तेदार, दोस्त, परिचित सभी में यह वायरस फैला दिया है. हिंदू धर्मांध गोमूत्र पार्टी कर रहे हैं. गोमूत्र का पान करके कोरोना से मुक्ति पाने की कोशिश कर रहे हैं, इस विश्वास के साथ कि कोरोना पास नहीं आ पाएगा—गोबर का लेप लगाकर बैठे हुए हैं. धार्मिकों की युक्तिबुद्धिहीनता असहनीय हो उठी है, विशेषकर इस महामारी के समय.

गौर कर रही हूं, लोकतांत्रिक देशों में कोरोना वायरस को रोक पाना उस तरह से संभव नहीं हो रहा है. अमेरिका भी ठीक-ठाक लॉकडाउन नहीं कर पा रहा है, वहां आक्रांतों की संख्या भयंकर रूप से बढ़ रही है लेकिन चीन ने ठीक-ठाक काबू कर लिया. तो क्या गैर लोकतांत्रिक देशों के लिए इस महामारी को रोकना संभव हो रहा है? चीन के लिए भी यह संभव नहीं होता यदि महामारी के चलते वहां कोई इस तरह की धार्मिक सभा चलती होती. न ही यह सउदी अरब के लिए संभव होता. बस यह भारतीय उपमहादेश ही सारी संभावनाओं का देश है.

❒

बांग्ला से अनुवाद—अमृता बेरा
ईमेल : amrujha@gmail.com

राकेश भ्रमर की ग़ज़ल

बैठे हो यहां धूप में घर क्यों नहीं जाते
टूटे हो मोहब्बत में बिखर क्यों नहीं आते

हाथों में आफताब है, आंखों में अंधेरा,
जुगनू चमक रहे हैं, उधर क्यों नहीं जाते

यह देश सियासत के अंधेरों में बंटा है
फिर लोग उजालों के शहर क्यों नहीं जाते

दरिया है, कोई आग का सैलाब तो नहीं
जाना है अगर पार, उतर क्यों नहीं जाते

किस्मत के भरोसे सदा बैठे ही रहोगे
मेहनत के पसीने से संवर क्यों नहीं जाते

❒

संपर्क : 28, तीसरा तल,
गली नं. 11, प्रताप नगर,
मयूर विहार-1, दिल्ली-110091
मो. 9968020930
ईमेल : rakeshbhramar@rediffmail.com

सदस्यता प्रपत्र

मूल्य : रु. 40/- प्रति

व्यक्तिगत सदस्यता–देश

(अ) वार्षिक : रु. 400/- साधारण डाक द्वारा
रु. 700/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा
(ब) आजीवन : रु. 10000/- साधारण डाक द्वारा
रु. 17000/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा

व्यक्तिगत सदस्यता–विदेश

(अ) वार्षिक : रु. 4000/- (समतुल्य स्थानीय मुद्रा) साधारण डाक द्वारा
(ब) आजीवन : फिलहाल उपलब्ध नहीं

संस्थागत सदस्यता–देश

(अ) वार्षिक : रु. 600/- साधारण डाक द्वारा
रु. 900/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा
(ब) आजीवन : रु. 15000/- साधारण डाक द्वारा
रु. 22000/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा

संस्थागत सदस्यता–विदेश

(अ) वार्षिक : रु. 6000/- (समतुल्य स्थानीय मुद्रा) हवाई डाक द्वारा

व्यक्तिगत ☐ **संस्थागत** ☐ **देश** ☐ **विदेश** ☐

नाम : ....

पता : ....

शहर...................................**राज्य**.............................**देश**.........................**पिन**.................................

दूरभाष...**मो.** ....

ईमेल ....**वेबसाइट**...

सदस्यता अवधि

1 वर्ष ☐ **2 वर्ष** ☐ **3 वर्ष** ☐ **4 वर्ष** ☐ **5 वर्ष** ☐ **आजीवन** ☐

PAYMENT METHOD
Online Transaction : **Vijaya Bank,** Ansari Road
C/A : 601700300001362, **IFSC Code :** VIJB0006017, **SWIFT No. :** VIJBINBBRFC
Cheque/Draft : In Favour of **Akshar Prakashan Pvt. Ltd.**

मनीऑर्डर/चैक निम्नलिखित पते पर भेजें :
अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 011-23270377, 41050047
ईमेल : editorhans@gmail.com वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

हंस

विशेषांक मार्च 2017

अपराध-रहस्य वार्ता

• कहानी खंड

संजीव, मुशर्रफ आलम ज़ौक़ी, अवधेश प्रीत, एस. आर. हरनोट, जयश्री रॉय, पंकज सुबीर, जवाहर चौधरी, विवेक मिश्र, पंकज मित्र, रणेन्द्र, विजय कुमार सप्पत्ति, निर्मला तोदी

• अनूदित कहानी खंड

रवीन्द्रनाथ ठाकुर (अनुवाद : राजेश चतुर्वेदी), गाई द मोपांसां (अनु. : अशोक कुमार), कमला दास (अनु. : सुधा बालकृष्णन), रत्नाकर मतकरी (अनु. : हूबनाथ पांडेय), धूमकेतु (रानू मुखर्जी), विश्वदेव मुखोपाध्याय (ब्रजकिशोर झा),

• प्रलेख खंड

बाबू गोपालराम गहमरी (1866-1946), संजय कृष्ण, कमल कुमार मिश्र, दामोदर मिश्र

• आलेख खंड

प्रताप दीक्षित, अनामिका, प्रियदर्शन, मुकेश भारद्वाज, दूर्वा सहाय, दिनेश श्रीनेत, अरुण होता, अनिन्द्य गंगोपाध्याय, मुशर्रफ आलम ज़ौक़ी, शरद सिंह, विजय कुमार भारती, निर्माल्यो घोष, अभय दोषी, प्रताप दीक्षित, अविनाश कुमार, रवि रतलामी, विशी सिन्हा, शशांक शुक्ला, दीपक शर्मा, गौतम सान्याल

• परिचर्चा

सैय्यद मुजाविर हुसैन रिज़वी, पंकज बिष्ट, इब्बार रब्बी, क्षमा शर्मा, नरेन्द्र नागदेव, सुधीश पचौरी, किरण सिंह

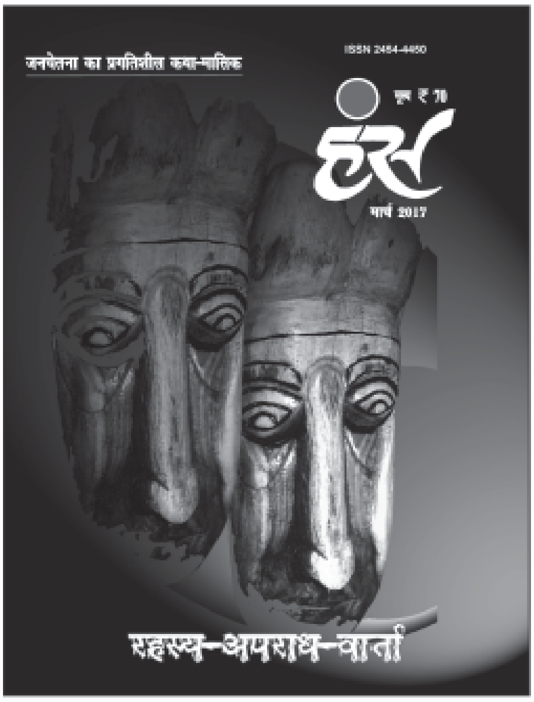

अतिथि संपादक : गौतम सान्याल

संपर्क : अक्षर प्रकाशन प्रा.लि.

2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : 23270377, 41050047

ईमेल : editorhans@gmail.com

वेबसाइट : www.hanshindimagzine.in